सामाजिकी...-2

जनवरी-मार्च 2026
वर्ष 2 • अंक 1 • खंड 1

समाजविज्ञान और मानविकी की
पूर्व-समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक
बद्री नारायण

सह-सम्पादक
रमाशंकर सिंह

सामाजिकी भारत का
SAMAJIKI BHARAT KA
RNI No. DLHIN/25/A2262
ISSN : 3108-3277
Print Only
भाषा : हिन्दी

मूल्य : ₹150

वार्षिक सदस्यता : ₹750
(रजिस्टर्ड डाक-व्यय सहित)
विदेशों के लिए वार्षिक सदस्यता :
US $ 30@ £ 25 (via air mail)
US $ 21@ £ 18 (via sea mail)

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
वेबसाइट : www.rajkamalprakashan.com
ई-मेल : info@rajkamalprakashan.com
फ़ोन : 011-23274463/23288769

क्रम

सम्पादकीय / 7

पुनर्नवा

भाषा, धर्म और राष्ट्र में पगा जीवन : धर्मानन्द कोसम्बी / 11
रमाशंकर सिंह

सन्धान

साहित्यिक भावावेश, पाठक समुदाय और राष्ट्रवादी विधि-निषेध / 20
प्रभात कुमार

आकांक्षा से आस्था तक : लोहिया और भारतीय चरित्रों की व्याख्या / 45
सत्य प्रकाश सिंह

तजना का बहता पानी : बिरसा मुंडा के आन्दोलन में जनजातीय अस्मिता के स्वर / 64
संजय यादव, स्निग्धा त्रिपाठी

अतिपिछड़े वर्गों में उपवर्गीकरण और प्रतिनिधित्व की राजनीति : लखीमपुर ज़िले की तेली-तमोली जातियों का अध्ययन / 77
पंकज कुमार

पितृसत्तात्मक भेदभाव : उच्चतम न्यायालय की न्यायिक नियुक्ति में लैंगिक असमानता / 96
निशान्त यादव

राजस्थान का मांगणियार समाज : लोक संगीत का सर्जक एवं संरक्षक / 120
मनुराधा चौधरी, देवीलाल गोदारा

दस्तावेज़

धर्मानन्द कोसम्बी की आत्मकथा *निवेदन* से एक अंश / 131
अनुवाद : **रंजना अरगड़े**

साक्षात्कार

दीपेश चक्रवर्ती से **रविंद्र कुमार** की बातचीत / 143

साहित्यिक भावावेश, पाठक समुदाय और राष्ट्रवादी विधि-निषेध

प्रभात कुमार

राष्ट्रवाद एक शैक्षणिक परियोजना है जिसमें शिक्षित मध्यवर्ग अपने नैतिक-राजनैतिक-आर्थिक मानदंडों के आधार पर अवाम की बहुल और भिन्न सांस्कृतिक-स्थानिक स्मिताओं-आस्वादों को परिमार्जित कर राष्ट्र में पुनर्गठन करता है,[1] और इन मायनों में हिन्दी राष्ट्रवाद भी अपवाद नहीं रहा है। सन 1900 के 'मैकडॉनल क्षण' के बाद अवाम को शिक्षित कर उसे नैतिक-राजनैतिक समुदाय, यानी एकल राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करना हिन्दी के राजनीतिक जीवन की अहम चुनौतियों में एक था।[2] ज़ाहिर है, रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से सम्बन्धित उचित नैतिक-सांस्कृतिक निर्देश तथा गहन सामाजिक-सौन्दर्यशास्त्रीय बहस, दोनों एक ही वैचारिक-राजनीतिक फ़लक के हिस्सा थे। लिहाज़ा हिन्दी मध्यवर्ग या 'नवजागरण' के अग्रदूतों ने साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र के प्रश्नों व प्रतिमानों के साथ-साथ, अपने समुदाय के लिए उचित दैनन्दिन नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों, रवायतों व रियाज़तों को गढ़ने-बुनने का भी प्रयास किया।[3] ख़ासकर पत्रिकाओं के ज़रिये यह सिखाने-बताने की मुसलसल कोशिश की कि राष्ट्रवाद के दौर में पाठक-जनता रोज़मर्रा के जीवन को कैसे व्यवस्थित करे। राष्ट्रीय-आधुनिकता के (सवर्ण हिन्दू मध्यवर्गीय) तक़ाज़े से भौतिक-सांस्कृतिक उकसावों और प्रलोभनों से परे लोग अपने घर में कैसा व्यवहार (न) करें, सार्वजनिक मंचों या स्थानों पर ख़ुद को कैसे पेश (न) करें, कब और क्या (न) पढ़ें, क्या व कैसा (न) खायें, क्या (न) पहनें, क्या (न) देखें आदि। इन्हीं विधि-निषेधों के मद्देनज़र यह लेख सिर्फ़ एक मुद्दे पर केन्द्रित है : पाठक को क्या (नहीं) पढ़ना चाहिए।

यहाँ भारतीय फ़िल्म सेंसरशिप की राजनीतिक संस्कृति और विमर्श पर केन्द्रित विलियम माज़रेला की चर्चित किताब में पेश 'सेंसोरियम' (निषेधायन) की अवधारणा मानीखेज़ है। माज़रेला प्रतिबन्ध (censorship) को इन्द्रिय-बोध (sensorium) से जोड़कर एक नया पद बनाते हैं—'सेंसोरियम'। मैंने इसका

भावानुवाद 'निषेधायन' किया है। यहाँ निषेधायन का तात्पर्य विधि-निषेध की उस प्रक्रिया से है जो पाठक देह के इन्द्रिय-बोध को नियंत्रित/प्रतिबन्धित करता है। माज़रेला के उर्वर सूत्रीकरण में 'सेंसरशिप संस्कृति' की बेहतर समझ के लिए वैधानिक-नैतिक नियंत्रण और नियमन का अध्ययन नाकाफ़ी है। उनके अनुसार सेंसरशिप संस्कृति के गठन में वे सभी प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं जिसके तहत सौन्दर्यशास्त्रीय फ़ैसला सुनाने का आधार, प्रिंट या सिने मीडिया द्वारा (अनाम) पाठक/दर्शक में ऐन्द्रिक उत्तेजना पैदा कर सकने की क्षमता होती है। इन मायनों में वे सेंसरशिप का उद्देश्य जनता के भावावेश का प्रबन्धन बताते हैं।[4]

राष्ट्रवादी विधि-निषेध को नये और बेहतर ढंग से परखने के लिए इस लेख में हम इसके ऐन्द्रिक उत्स की तलाश करेंगे, जो रचनात्मक कला-साहित्य का मूल्यांकन इस आधार पर करता है वे पाठक में किस प्रकार के भाव-बोध और ऐन्द्रिक आवेग का संचार करते हैं। पाठक की छवि को केन्द्र में रखकर हम दिखाएँगे कि कैसे और क्यों साहित्यिक भावावेश से अभिभूत पाठक की छवि बीसवीं सदी की शुरुआत से ही हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों के लिए परेशानी का सबब रही। किस प्रकार पाठकीय उद्दीपन और भावावेश को साहित्य को परखने का, पठनीय या अपठनीय घोषित करने का, पैमाना बनाया गया। हम यह भी सुझाएँगे कि कैसे साहित्यिक विधि-निषेध की भाषा बड़ी सहजता से जाति-भेद की पहले से मौजूद तिरस्कार-बहिष्करण की भाषा से घुल-मिल गई, मनोरंजनमुखी 'पतित' पाठकों की 'शुद्धि' कर उनको सुधारने का जतन क्योंकर हुआ। हम देखेंगे कि राष्ट्रवादी निषेधायन का अन्तिम उद्देश्य पाठक-जनता की उद्दीप्त और भावावेशित देह पर नियंत्रण था। दरअसल वह पाठकीय उत्तेजना और नैतिक-राजनीतिक सत्ता-व्यवस्था के बीच मध्यस्थता कर रहा था ताकि पाठक-जनता की दैहिक-मानसिक ऊर्जा को 'उच्च' भाव और आवेश वाले साहित्य की ओर मोड़ा जा सके, जो मानक राजनीति व नैतिकता के अनुकूल और उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलन के लिए फ़ायदेमन्द हो।

लेख की शुरुआत में हम उस समय के रोज़मर्रा के जीवन में (अनुचित) आसक्ति व मनोरंजन के विभिन्न स्वरूपों के ऐन्द्रिक ख़तरों पर अक्सर प्रकाशित होने वाली कुछ सामग्रियों की विवेचना करेंगे। फिर 'निम्न' स्तर के पाठों और मनोरंजन में आसक्त लालसा से उद्दीप्त पाठकीय देह के प्रति राष्ट्रवादी असहजता को उजागर करेंगे, और साथ ही इन पाठकीय देहों को राष्ट्रवादी साहित्य और राजनीति की उदात्त उत्तेजना की ओर ले जाने की मौन आकांक्षा को रेखांकित करेंगे। दैनन्दिन और मामूली से विराम लेकर, लेख के अगले हिस्से में हम उस परिघटनाई विमर्श पर चर्चा करेंगे जिसने 1920 के दशक के उत्तरार्ध में हिन्दी जनपद में उथल-पुथल मचा दी थी। हम 'घासलेटी साहित्य' पर उठे मशहूर ऐतिहासिक विवाद की पुनर्विवेचना करेंगे जो पाठक-जनता को उकसाने-भड़काने वाले साहित्यिक (कु)प्रभावों पर ही केन्द्रित था।

I

राष्ट्रवादी विधिनिषेध और रोज़मर्रा जीवन के बहकावे

हालाँकि उस दौर में छपने वाली हर हिन्दी पत्रिका की सभी विधाओं में शैक्षणिक आवेश व्याप्त था, लेकिन रोज़मर्रा के आचार-विचार, रहन-सहन को लेकर प्रस्तावित नवाचार के राष्ट्रवादी

नुस्खे कार्टून शृंखलाओं में प्रमुखता से दिखते हैं। मसलन, एक समृद्ध मध्यवर्गीय परिवार की कॉलेज जाने वाली युवती की दिनचर्या पर लक्षित कार्टून शृंखला—*आधुनिक सम्पन्न नारी की दिनचर्या* (चित्र 1)—देखें।[5] आधुनिक वास्तुकला के हिसाब से निर्मित, निजी शौचालय और ड्रेसिंग रूम आदि से सुसज्जित घर में रहने वाली एक युवती नहाने, बाल सँवारने और मेकअप करने में लम्बा समय अकेले बिताती है। यानी, कॉलेज जाने से पहले, अपनी ऐन्द्रिक आसक्ति में, बनने-सँवरने में ढेर सारा समय ख़र्चती है। उसी तरह वह शाम को हवाखोरी के लिए ड्राइव पर निकलती है, फिर रेडियो/ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड सुनती है। और तो और, बेडरूम में लेटकर वह एकान्त में उपन्यास पढ़कर अपना दिनचर्या ख़त्म करती है।

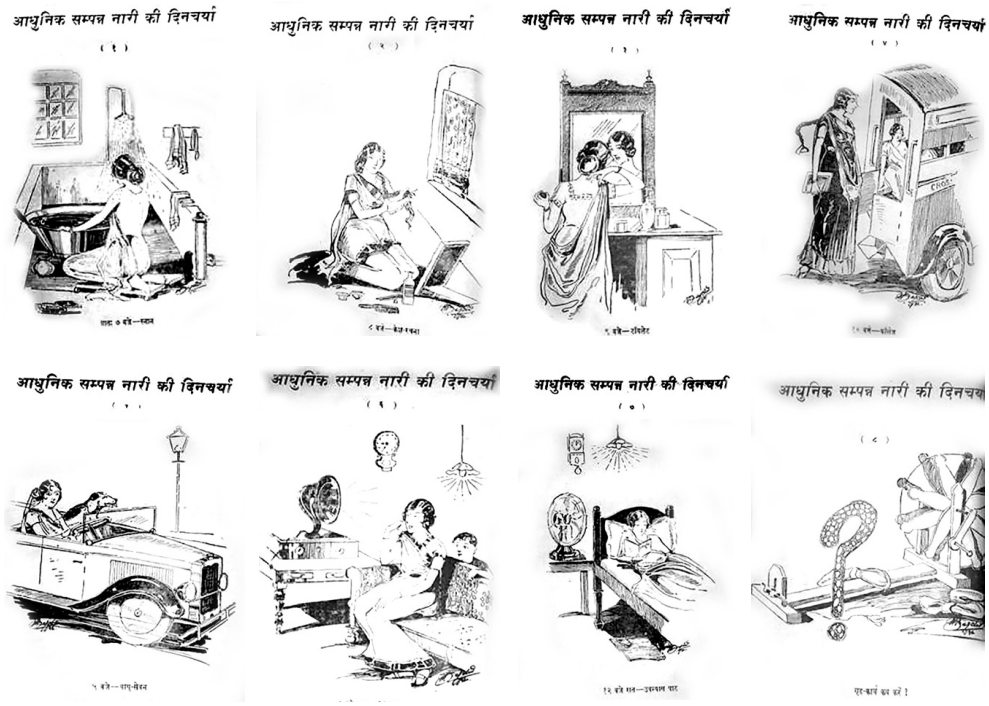

चित्र 1

नि:सन्देह इशारा यह है कि (राष्ट्रवादी दौर में) समय की पुकार के मुख़्तलिफ़, ऐसी आधुनिक महिलाएँ विलासिता में अपना समय बर्बाद कर रही हैं, इसीलिए उनके पास राष्ट्रीय कार्य यानी चरखा कातने का समय नहीं बचता। चरखा, जो कच्चे कपास को सूत में बदलकर राष्ट्र का कपड़ा, यानी खादी बुनता है। इसलिए कपास का गोला कर्तव्यच्युत युवती को घूरता हुआ प्रश्नचिह्न के रूप में खड़ा है! खादी अर्थात राष्ट्र के ताने-बाने की सम्भावना, कपास का गोला अर्थात राष्ट्र का अनबुना घटक। यह कार्टून शृंखला राष्ट्र की युवा इकाई को भोगलिप्त होने के लिए फटकारती है और परोक्ष रूप से उसकी शारीरिक ऊर्जा को राष्ट्रवादी परियोजना की तरफ़ निर्देशित करने का प्रस्ताव रखती है।

ऐसी ही दूसरी शृंखला है, *विद्यार्थियों का हॉस्टल जीवन* (चित्र 2)।[6] यह एक ऐसे युवक के बारे में है, जो विश्वविद्यालय का छात्र है और छात्रावास में रहता है। लेकिन वह भी सुबह 8 बजे से दोपहर 12 बजे तक का समय आराम से चाय की चुस्की लेते हुए, शेव करते हुए, नहाते और शृंगार करते हुए, दोस्तों के साथ ताश खेलते हुए, लॉन टेनिस के खेल

का आनन्द लेते हुए, मूवी थियेटर में फ़िल्में देखते हुए, गाना गाते और हारमोनियम बजाते हुए, और सोने से पहले चेहरे पर गोरापन लाने वाली क्रीम लगाते हुए नष्ट करता है। जब वह ख़ुद को नाना प्रकार के दैहिक और ऐन्द्रिक सुखों में डुबा रहा होता है, कार्टून के हर फ़्रेम में एक प्रश्न उसके ऊपर मँडराता रहता है : 'देश का चिन्तन कब करें!' ऐसे कार्टून एक स्पष्ट मगर अप्रत्यक्ष प्रस्ताव रखते हैं : निजी आनन्द, मनोरंजन और खेलकूद के बजाय, देश के युवाओं को अपना दिलो-दिमाग़ राष्ट्रीय राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति की ओर लगाना चाहिए।

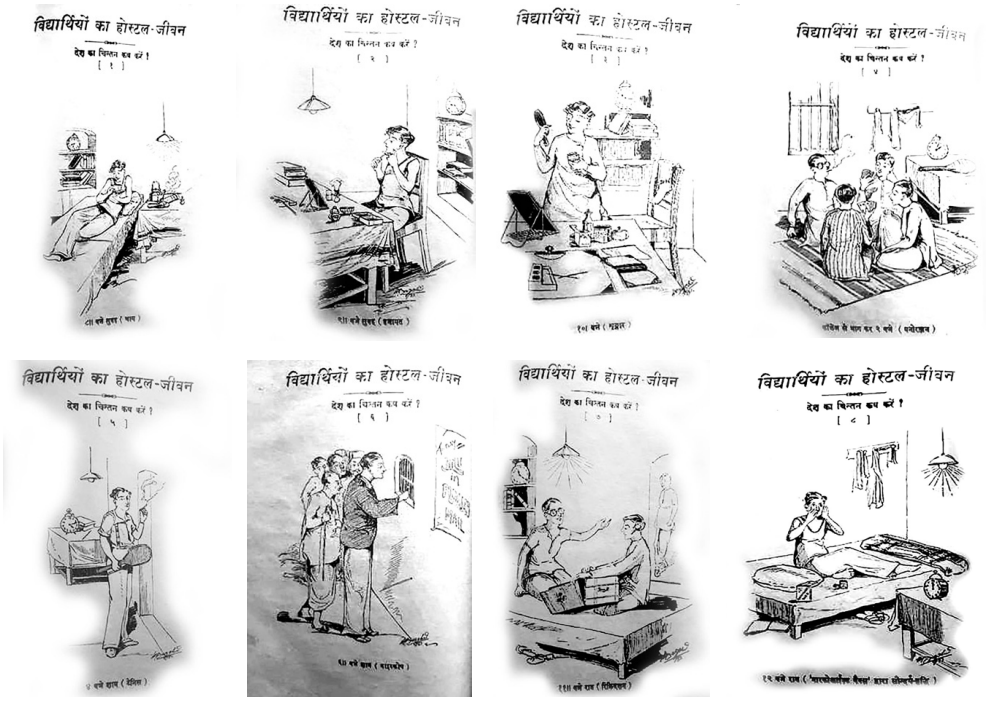

चित्र 2

ऐसे कार्टून दरअसल देश के युवक-युवतियों के काम और फ़ुरसत के समय को अनुशासित और नियमित करने की राष्ट्रवादी चाहत का बयान करते हैं ताकि कार्य-कुशल और आर्थिक रूप से उपयोगी राष्ट्र का निर्माण हो सके। ज़ोर है कि युवक और युवतियों को राष्ट्र के ज़रूरी कार्य के लिए अपनी रोज़मर्रा की दिनचर्या से समय निकालने की आवश्यकता है। इशारा यह भी किया गया कि मनोरंजन या ऐन्द्रिक आनन्द (शरीर को सुन्दर बनाना, खेल का आनन्द लेना, उपन्यास पढ़ना, संगीत सुनना या सिनेमा देखना आदि) पर ख़र्च समय अपरिहार्य राष्ट्रीय राजनैतिक-आर्थिक कार्य के समय का अतिक्रमण करता है। सुझावत: ऐसी दिनचर्या को बदलने की दरकार है।

इन घोर उपयोगितावादी और सख़्त नैतिक दृष्टि वाले कार्टूनों में ऐन्द्रिक आनन्द से जुड़े प्रिंट, श्रव्य या दृश्य मीडिया को पाठक-जनता के समय और चरित्र को बर्बाद करने वाला दिखाया जाना क़ाबिल-ए ग़ौर है। बेशक यह माना गया कि इन मनोरंजक मीडिया रूपों में प्रभावी भावात्मक जीवन और अपार आकर्षण शक्ति है, जो पढ़ने-देखने-सुनने वाले लोगों की समझ और संवेदना पर हावी हो जाती है, जिससे प्रतिकूल और विचलनकारी नैतिक-राजनीतिक-सामाजिक परिणाम सामने आते हैं। इसलिए, लोगों या पाठकों के लौकिक जीवन में मौजूद मीडिया-प्रलोभनों को नियंत्रित और नियमित करने की ज़रूरत है।

इस सिलसिले में पाठक सम्बन्धी राष्ट्रवादी चिन्ताओं की अभिव्यंजना पर और विस्तार से ग़ौर करना दिलचस्प होगा। मसलन, उपन्यास पढ़ने में तल्लीन शिक्षित महिला/पत्नी की छवि तत्कालीन व्यंग्य साहित्य और कार्टूनों में बारम्बार आती है। गोया उपन्यास ने उनकी समझ और संवेदना को कुंद कर दिया हो, चुनाँचे वे घर के काम में मेहनत और मन लगाने, घर का कुशल प्रबन्धन या देखभाल करने जैसी आवश्यक (लैंगिक/स्त्रियोचित) ज़िम्मेदारियों के प्रति बेपरवाह रहती हैं। जैसे, देखें *निराश्रित विधवा* (चित्र 3)।[7] सुबह से दोपहर तक उपन्यास के एकान्त पाठ में मग्न यह महिला निराश्रिता अपनी ज़िम्मेदारियों से यों बेख़बर है कि घर के कामों में जी लगाना तो दूर, वह न्यूनतम मानवीय संवेदना भी खो चुकी है। उसकी ग़रीब विधवा रिश्तेदार/चाकर सुबह से ही बिना खाए-पिए लगातार रसोई में खट रही है लेकिन हाथ बँटाना तो दूर, वह उपन्यास से अपनी नज़र भी नहीं हटा रही। इसी तरह, अगला कार्टून, *अर्ध-शिक्षिता बीबी* (चित्र 4)[8] भी ऐसे ही ख़तरों को सामने लाता है। पत्नी सार्वजनिक जगहों में चलते हुए भी पढ़ रही है, जबकि पति उसके हैंडबैग और बच्चे को उठाए हुए पीछे-पीछे चुपचाप चल रहा है।



चित्र 3



चित्र 4

वृद्धस्य तरुणी भार्या (चित्र 5)[9] की यह तसवीर एक कार्टून शृंखला का हिस्सा है, जिसमें आधुनिक सुख-सुविधाओं से लैस घर में रहने वाले बेमेल दम्पती की दिनचर्या को दर्शाया गया है। ग़ौरतलब है कि सुबह साढ़े नौ बजे ख़ूबसूरत कमसिन पत्नी बिस्तर पर लेटी हुई उपन्यास पढ़ने में मशगूल है, जबकि उसके शयनकक्ष के बग़ल में ही प्रौढ़ पति रसोई में नाश्ता बना रहा है। *सुगृहिणी!* कार्टून (चित्र 6)[10] में न केवल महिला की आँखें उपन्यास में धँसी हुई हैं, बल्कि उसके कान भी रेडियो पर लगे हुए हैं। प्रिंट और ऑडियो की दोगुनी मस्ती में सराबोर महिला अपने रोते हुए बच्चे से बेख़बर है, जबकि पति यह दृश्य देखकर हतप्रभ है और/या उसे टोकने-रोकने से डर रहा है। ज़ाहिर है, इन सब छवियों में उपन्यास पढ़ने वाली महिला को एक सामाजिक समस्या के रूप में देखा गया है, क्योंकि उपन्यास

सुध-बुध छीनकर उसे कर्तव्यच्युत कर देता है। शायद इसलिए भी यह समस्या है क्योंकि वह बिना सक्षम अभिभावकीय निगरानी के (दब्बू पति अथवा अधीनस्थ चाकर की संगति में) में पढ़ रही है, और उपन्यास न मालूम उसकी किन भावनाओं को उकसा रहा हो। इस बिन्दु पर हम बाद में लौटेंगे।[11]



चित्र 5



चित्र 6

इन उदाहरणों से हमें यह निष्कर्ष निकालने की जल्दी नहीं करनी चाहिए कि महिलाओं का अध्ययन अपने आप में व्यंग्य और आलोचनात्मक निषेध का विषय था। पत्र, पत्रिकाएँ या अन्य सूचनाप्रद-शैक्षणिक प्रिंट सामग्री को पढ़ना न केवल आलोचना से परे था, बल्कि ऐसे कार्यों को दरअसल आदर्श महिला होने के संकेत के रूप में सराहा गया, जैसा कि अगले कार्टून में दिखता है। *पूर्वी और पश्चिमी नारी-जीवन* (चित्र 7)[12] में भारतीय महिलाएँ जहाँ फ़ुरसत के समय गप-शप करती दिखाई गई हैं, वहीं कल्पित आदर्श रूप में पेश पश्चिमी काम-काजी महिलाएँ अख़बार पढ़ने, दुनिया के मामलों पर चर्चा और चिन्तन में तल्लीन हैं!

वैसे ही *भेद* (चित्र 8)[13] में, एक अशिक्षिता, जो अपनी निजी चिट्ठी-पत्री और मामलों को अजनबी से साझा करती है, के उलट सुशिक्षित महिला-पाठक अपने घर के अन्त:पुर में दुनिया के बारे में पढ़ने-जानने के साथ ही घर की देखभाल भी कुशलतापूर्वक करती दिखाई गई है। राष्ट्रवादी परियोजना को ऐसे पाठक चाहिए थे जो घर (देश) और दुनिया के बारे में जागरूक-जानकार बनकर, अपनी ख़ुदी को राष्ट्रीय ख़ुदी का हिस्सा बनाकर, ख़ुद को बेहतर राष्ट्रीय इकाई बना सकते थे। दरअसल, ऐसे आदर्श पाठकों की कमी राष्ट्रवादियों को खलती रहती थी।[14] बहरहाल, ग़ौरतलब है कि पाठक मनोरंजक साहित्य का हो या शैक्षणिक साहित्य का, दोनों ही हालात में यहाँ पठन-पाठन की एक साझी अवधारणा काम कर रही है : *आम*



चित्र 7



चित्र 8

व्यक्ति/पाठक वैसा ही बन जाता है, जैसा वह पढ़ता है।[15]

उपन्यास-विलासी महिला छवियों की एक लम्बी सांस्कृतिक वंशावली है। इसका एक सिरा औपनिवेशिक भारत में महिला शिक्षा और सामाजिक सुधार के मध्यवर्गीय जेंडरित सांस्कृतिक इतिहास के साथ गहरे जुड़ा है,[16] जिसके अन्तर्गत शिक्षित महिला को उन भारतीय पुरुषों का कार्यकुशल घरेलू/सांस्कृतिक पूरक बनना था जो आधुनिक घड़ी संचालित औपनिवेशिक दफ़्तर या आधुनिक प्रतिष्ठान के नये कार्यालय में काम करते थे।[17] वहीं इसका दूसरा सिरा

छापा-संस्कृति उद्योग और मनोरंजन प्रधान साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों को लेकर उपजे तनावपूर्ण राष्ट्रवादी द्वैध से जुड़ा है,[18] जिसकी चर्चा हम इस लेख में थोड़ा विस्तार में करेंगे। यहाँ हमारे लिए प्रासंगिक है उपन्यासों को ऐन्द्रिक सुख की वस्तुओं के रूप में दी गई प्रमुखता, जो महिलाओं द्वारा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा का कारण बन रही है। हम उपन्यास-पाठक की इस छवि को आधुनिक हिन्दी के इतिहास में मौजूद उपन्यास-विरोधी विमर्श के अपेक्षाकृत लम्बे अतीत से जोड़ सकते हैं, जो मनोरंजक उपन्यासों और साहित्यिक राष्ट्रवाद के बीच के असहज किन्तु अन्तरंग रिश्तों की ओर इशारा करते हैं। अपने शुरुआती ऐतिहासिक क्षण से ही, औपनिवेशिक हिन्दुस्तान में उपन्यास की भावात्मक शक्ति, सुधारवादी राष्ट्रवादियों के लिए चिन्ता का विषय बनी रही। मसलन, इस असहज रिश्ते के लक्षण उस प्रसिद्ध किन्तु विवादास्पद सम्पादकीय कार्टून *साहित्यसभा* (चित्र 9) में बख़ूबी उभरकर आए थे, जो 1903 की शुरुआत में *सरस्वती* में प्रकाशित हुआ था। जैसा हम जानते हैं, *सरस्वती* एक मासिक पत्रिका थी जिसने बीसवीं सदी के पहले दो दशकों में आधुनिक हिन्दी को आकार दिया। सम्पादकीय कार्टून ने ज्ञान के विभिन्न रूपों/शैलियों की विकृत उपस्थिति और अनुपस्थिति को वक्रता से निरूपित कर, हिन्दी की तत्कालीन दुखद स्थिति पर शोक जताया।

ध्यान देने वाली बात यह थी कि उपन्यास को एक बदसूरत जादूगर-बाजीगर के रूप में प्रस्तुत किया गया था, जो कल्पित हिन्दी साहित्यिक सभा में केन्द्रीयता से विराजमान था। सम्पादकीय कार्टून के नज़रिये से, आदर्श उपन्यास (बिल्डुंग्सरोमन) की अवधारणा के विपरीत, हिन्दी में उपन्यास किसी भी शिक्षाप्रद-नैतिक सामग्री से महरूम थे, लेकिन बेशक उनमें मंत्रमुग्ध करने वाले गुण भरपूर थे। व्यंजना यह थी कि उपन्यास अपने पाठकों की इन्द्रियों पर



1. इतिहास-(ख़ाली)। 2. जीवनचरित-(ख़ाली)। 3. पर्यटन। 4. समालोचना। 5. उपन्यास। 6. व्या-(धि)-करण। 7. काव्य। 8. नाटक। 9. कोश-(ख़ाली)।

चित्र 9 : सरस्वती सभा की ओर देख रो रही है।

उसी तरह से क़ब्ज़ा कर लेता है, जैसे (निम्न सांस्कृतिक-सामाजिक हैसियत के) ख़ानाबदोश जादूगर-बाजीगर अपने गँवार या बचकानी अक़्ल वाले दर्शकों को सम्मोहित कर करते हैं। हिन्दी में ज्ञान या/और रचनात्मक साहित्य की ऐसी शर्मनाक/बीभत्स स्थिति के मद्देनज़र (जैसा कि सब कुछ देखने वाली सरस्वती—जो यहाँ पत्रिका का मूर्त रूप भी है और विद्या की देवी भी—की प्रतिक्रिया द्वारा व्यंजित किया गया है), उपन्यास या सम्पूर्ण साहित्यिक निकायों को सुधारने, बदलने और आधुनिक बनाने की तत्काल आवश्यकता प्रस्तावित की गई।[19]

दूसरे शब्दों में, मंत्रमुग्ध करने वाले भावात्मक शक्तिपुंज के रूप में उपन्यास का ऐसा निरूपण, जो पाठक-जनता को मोहपाश में बाँध उसकी इन्द्रियों को बस में कर सकता है, रेखांकित करता है कि उपन्यास (भावी राष्ट्रवादी) पाठकों को फँसाकर उन्हें राष्ट्रवादी शैक्षणिक परियोजना से दूर करता है। ऐसी निंदा और निषेध केवल उपन्यास तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि इस निषेधायन में वे सभी विधाएँ शामिल की गईं जो पाठक की ऐन्द्रिक उत्तेजना को भड़का सकती थीं, जो पाठक को नैतिक-सामाजिक-यौनिक कुकृत्य के लिए उकसाती थीं। इस सन्दर्भ में अगला कार्टून, *रस-ज्ञान और नारी-सम्मान* (चित्र 10) स्वत: स्पष्ट है।[20]

एक शिक्षित युवक अकेले श्रृंगार (या काम-प्रधान प्रेम) कविता पढ़ रहा है। इस कृत्य के परिणामस्वरूप कामोत्तेजना उसकी इन्द्रियों पर हावी हो जाती है। पाठक के मन में चल रहे भावों को दिखाने वाले चित्र-बैलून में मौजूद सुन्दर महिला की छवि बताती है कि वह प्रेम (कविता) की दीवानगी में है। अपनी प्रकृति के अनुरूप ही पाठ, पाठक में अनुचित लालसा जगा रहा है,[21] उसे वास्तविक दुनिया से जुदा कर 'कल्पना के सागर में गोता लगाने' के लिए धकेल रहा है, जो नीचे छपे कैप्शन से भी स्पष्ट है। काम-लालसा से उत्तेजित पाठक, वास्तविक और काल्पनिक के बीच का अन्तर भूल जाता है। वह बाहर काम पर या टहलने-घूमने जाती युवतियों को घूरता है, उनका पीछा करता है मानो वे उसकी श्रृंगार कविता की नायिकाएँ हों। नतीजतन उसे सार्वजनिक रूप से तिरस्कार और अपमान मिलता है। ऐसी (अन) होनी के

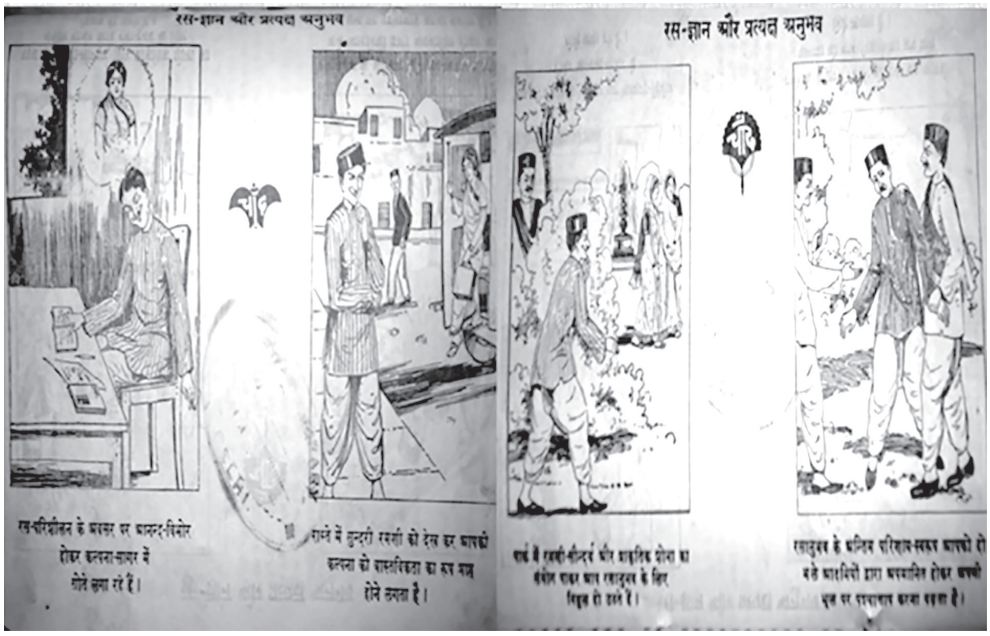

चित्र 10

बरक्स, अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रस्तावित किया गया कि पाठक को ऐसे ख़तरनाक प्रभाव वाले साहित्य से बचना चाहिए।

ज़ाहिर है, इन व्यंग्य-चित्रों ने इस स्थायी आम मान्यता को बल दिया कि साहित्य में अपने पाठकों को भावनात्मक मोहपाश में बाँधने की शक्ति है।[22] जैसा साहित्यिक पाठ होगा, पाठक में वैसे ही भाव का संचार होगा और अन्ततः पाठक (का चरित्र) पाठ जैसा ही बन जाएगा। यदि यह ख़राब नैतिक गुणों वाला हो तो पाठक को नैतिक रूप से दुर्बल बनाएगा, जिससे वह एक अप्रिय सामाजिक प्राणी बनने की दिशा में अग्रसर होगा। महिलाएँ नैतिक रूप से भटक जाएँगी, पुरुष अनैतिक और व्यभिचारी हो जाएँगे, कुल मिलाकर राष्ट्र अव्यवस्थित हो जाएगा, आदि-आदि। इसके विपरीत, यदि साहित्य उच्च नैतिक गुणवत्ता का हो तो यह पाठक के अन्तर्मन और आत्म को बदल देगा, उनका चरित्र-निर्माण करेगा, उसे एक बेहतर सामाजिक प्राणी बनाएगा।[23] इसलिए यह माना गया कि राष्ट्र के अलम्बरदारों को साहित्य की ज़मीन और उसकी पैदावार की, उत्पादकों और उपभोक्ताओं की, अर्थात लेखकों और पाठकों की ख़बर लगातार लेती रहनी चाहिए। ताकि, पाठक को डुबोने-भटकाने वाले निम्न स्तरीय मनोरंजक प्रिंट से दूर कर, उसे उत्कृष्ट राष्ट्रवादी सौन्दर्यशास्त्र की ओर ले जाने का समुचित प्रबन्ध और निर्देशन किया जा सके।[24]

II

अब चलते हैं रोज़मर्रा से उस परिघटना की ओर जिसका ज़िक्र लेख की शुरुआत में किया गया था। लेख के इस हिस्से में 'घासलेटी साहित्य' को लेकर उठे प्रसिद्ध साहित्यिक विवाद/आन्दोलन की पुनर्विवेचना से पहले तत्कालीन ऐतिहासिक सन्दर्भ को याद करना मानीख़ेज़ होगा। 1920 के बाद राष्ट्रवाद लोकप्रियता के चरम पर था, उसकी नैतिक शक्ति सर्वोपरि व सर्वमान्य थी, तथा राष्ट्रवादी हलक़ों में 'राजनीतिक' और 'सामाजिक' के बीच के सम्बन्धों पर जारी बहस ने नये अन्तरराष्ट्रीय आयाम हासिल कर लिये थे। सुधारवादी और उपनिवेशवाद-विरोधी साख वाले राष्ट्रवादी लेखक-प्रकाशकों ने यथार्थवाद की अभिव्यक्ति के नये साहित्यिक रूपों और तकनीकों का प्रयोग किया। प्यार, एहसास व चाहत के निजी अधिकार और उसकी सार्वजनिक अभिव्यक्ति की साहित्यिक गुंजाइश तलाशते हुए उन्होंने सुधार की शब्दावली में नये सामाजिक और यौनिक कथानकों वाले नाटक, उपन्यास और वृत्तान्त पेश किये। इसी समय कैथरीन मेयो की पुस्तक *मदर इंडिया*, जिसने भारत की सामाजिक बुराइयों को उजागर कर उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद की नैतिक वैधता पर सवालिया निशान लगाया था, पर उठे अन्तरराष्ट्रीय विवाद के मद्देनज़र, सामाजिक-यौन समस्याओं के साहित्यिक-रचनात्मक निरूपण की नैतिक और सौन्दर्यशास्त्रीय सीमाओं तथा उसके सामाजिक प्रभावों की बहस तीखी हुई। मुख़्तलिफ़ और प्रतिस्पर्धी विचार खुल्लमखुल्ला टकराने लगे। ऐसे हालात में साहित्य की भावात्मक शक्ति और उसके पाठकीय प्रभाव का मामला और भी जटिल हो गया।[25] जैसा कि हम आगे देखेंगे, सन्देह और असहजता भरी अभिव्यक्तियों ने कर्कश आरोपों-प्रत्यारोपों और कटु विवादों का मार्ग प्रशस्त किया। परिणामस्वरूप साहित्यकारों-प्रकाशकों पर परस्पर प्रतिबन्ध व बहिष्कार की भाषा में द्वेषपूर्ण हमले हुए। राजनीतिक सत्ता प्रतिष्ठानों के हवाले से सख़्त हस्तक्षेप व नैतिक और क़ानूनी बन्दिश की माँग की गई। लेकिन नये आवेशित राजनैतिक सन्दर्भ में भी राष्ट्रवादी विधि-निषेध का वृहत्तर अन्तर्निहित तर्क वही रहा : 'सस्ते' साहित्य

के मोहपाश से पाठकों को बचाया जाना चाहिए और राष्ट्रवादी सचेतकों को पाठक-जनता में साहित्यिक प्रभाव के कुशल प्रबन्धन को सुनिश्चित करने के लिए सतर्क रहना चाहिए।

तर्कों की पुष्टि करने के लिए मैं साहित्यिक अभिलेखागार के उन जाने-माने दस्तावेज़ों पर फिर से विचार करूँगा, जो 'घासलेटी साहित्य' को लेकर चले हैं।[26] विवाद में प्रयुक्त 'घासलेट' एक नया पद था जो 'भड़काऊ' और 'अश्लील' साहित्यिक प्रिंट के लिए इस्तेमाल किया गया। तत्कालीन उपयोग में 'घास' का मानी था बेकार, और 'लेट' चॉकलेट (जिसका मतलब था मीठा प्रलोभन) का शब्दांश था। 'चॉकलेट' तत्कालीन सन्दर्भ में समलैंगिक प्रेम/बाल यौन शोषण पर हालिया प्रकाशित पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के कहानी-संग्रह का शीर्षक था। इसके अलावा, घासलेट के शब्दार्थ के दायरे में ऐन्द्रिक भावनाएँ और प्रतिक्रियाएँ भी शामिल थीं, क्योंकि तीखे और अत्यधिक ज्वलनशील केरोसिन तेल को भी देशी बोलियों में घासलेट कहा जाता था। यानी केरोसिन की तरह का साहित्य, जो (नैतिक रूप से) तीखी बदबू वाला, (यौन रूप से) और ज्वलनशील हो सकता है, जिसमें पाठकों के जिस्म में कामाग्नि भड़काने की ताक़त है, जो समाज में विनाश और गन्दगी फैला सकता है।

बहरहाल, हम इस विवाद से जुड़े अभिलेखों के कुछ चुनिंदा अंश पेश करेंगे, जिनमें साहसी सामाजिक-यौन कथानक वाली कहानियों की निंदा और उनके निषेध पर बहस की गई थी। विवाद के दौरान बख़ूबी दिखाया गया कि साहित्य किस तरह पाठकों के गुमनाम समूह पर प्रभाव डालता है। क्यों ख़ासकर महिलाएँ और आम (निम्न वर्गीय) पाठक, शिक्षित और प्रबुद्ध (पुरुषों) की तुलना में, 'सस्ते' उद्दीपक साहित्य का शिकार बनते हैं; राष्ट्र के हित में इस तरह के साहित्य और इसके समर्थकों के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए। इसके अलावा, हम यह भी स्पष्ट करेंगे कि साहित्य की भावात्मक शक्ति से अन्ततः किसी को कोई गुरेज नहीं था, लेकिन उसे केवल तभी उचित और वैध क़रार दिया जा सकता था, जब तक वह पाठक में राष्ट्रवादी राजनीति सम्बन्धी आकांक्षा, एहसास व जुनून को उकसाए, न कि यौनिकता सम्बन्धी चाहत और भावनाओं को।[27]

घासलेटी साहित्य का विवाद : एक पुनर्विचार

जनवरी 1928 में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक नई पत्रिका *विशाल भारत* का सम्पादन शुरू किया, जिसके मालिक और प्रकाशक रामानन्द चटर्जी ख़ुद एक पत्रकार और प्रिंट व्यवसाय के दिग्गज थे। बाद में वे हिन्दू महासभा के नेता भी बने।[28] शुरुआती अंक से ही बनरसीदास ने हिन्दी में 'घासलेटी साहित्य' के तथाकथित प्रभुत्व के ख़िलाफ़ एक सुनियोजित सनसनीख़ेज़ अभियान चलाया। यहाँ ऐतिहासिक संयोगों पर ध्यान देने की ज़रूरत है। कैथरीन मेयो की पुस्तक *मदर इंडिया* (1927)[29] पर हो रही बहस के साथ ही प्रतिस्पर्धी प्रिंट बाज़ार में नवागन्तुक *विशाल भारत* ने व्यावसायिक रूप से सफल प्रतिद्वंद्वी प्रेस और पत्रिकाओं को निशाना बनाकर इस साहित्यिक 'आन्दोलन' की शुरुआत करके राजनीतिक-साहित्यिक सुर्ख़ियाँ बटोर लीं। जब भारत की सामाजिक समस्या को दर्ज करने वाली कैथरीन मेयो की किताब को उपनिवेशवाद को जायज़ ठहराने, या दूसरे शब्दों में, भारतीय राष्ट्रवाद को शर्मसार करने और उसकी नैतिक दावेदारी को कमज़ोर करने के लिए वैश्विक स्तर पर प्रचारित किया जा रहा था, उसी समय चतुर्वेदी ने पाठक-जनता की ऐन्द्रिक उत्तेजना को रोकने व राष्ट्र को तथाकथित नैतिक-सामाजिक नुक़सान से बचाने के लिए अश्लील और भड़काऊ

प्रिंटों के प्रतिबन्धन और बहिष्कार का आग़ाज़ कर अपना आन्दोलन शुरू किया। यह दर्ज करना मानीख़ेज़ होगा कि मेयो की रपट में भारत के 'सामाजिक पतन' के कारकों में हिन्दुओं के यौन उन्माद (जो तथाकथित रूप से बाल विवाह, समय से पहले मातृत्व, बड़े पैमाने पर हस्तमैथुन और समलैंगिकता जैसी रियाज़तों में नज़र आता है) को प्रमुखता दी गई थी। चतुर्वेदी ने अपने अन्दाज़ में *मदर इंडिया* के साम्राज्यवादी प्रेत को भी जवाब देते हुए समलैंगिकता/बाल यौन शोषण के ख़तरों पर, यौन रूप से उकसाने वाले साहित्य, जैसे *चॉकलेट* और अन्य कहानियों पर सीधे हमला करके अपना आन्दोलन शुरू किया।[30] चतुर्वेदी ने महात्मा गांधी के समर्थन का (मिथ्या) दावा करके अपनी राजनीतिक वैधता को मज़बूत किया।[31] समलैंगिक इच्छाओं की तथाकथित भड़काऊ कहानियाँ, सामाजिक रोमांस के सबसे ज़्यादा बिकने वाले 'उग्र' द्वारा लिखी गई थीं, जो उस समय उसी कलकत्ता में प्रसिद्ध और व्यावसायिक रूप से सफल मतवाला प्रेस में काम करते थे।[32] बहुत जल्दी ही चतुर्वेदी ने अपने निशाने पर एक अन्य प्रमुख प्रतिद्वंद्वी चाँद प्रेस और उसकी पत्रिकाओं (*चाँद* और *भविष्य*) को भी लिया, जो बेशक हिन्दू महिलाओं के भावनात्मक उत्पीड़न व यौन शोषण की समस्याओं पर ज्वलंत व दिल दहलाने वाले (सनसनीख़ेज़) अनुभवजन्य विवरण प्रकाशित करती थीं।[33] अपने प्रतिद्वंद्वियों की निशानदेही और हमले का दायरा बढ़ाते हुए उनके आन्दोलन ने 'आक्रामक' हास्य और सुधारवादी व्यंग्य रचनाओं को भी निशाने पर लिया, जो अक्सर 'अश्लील' और 'अभद्र' होते थे, और सार्वजनिक अभिव्यक्ति के सभ्य मापदंडों को ख़तरे में डालते थे।[34] चतुर्वेदी ने राष्ट्रवादी विधि-निषेध की पूर्व-मौजूद नैतिकतावादी आवाज़ों को न सिर्फ़ संयोजित-संघनित किया, बल्कि राजनीतिक रूप से उत्तेजित ऐतिहासिक क्षण में अपनी पत्रिका के ज़रिये इन आवाज़ों को ज़ोरदार ढंग से प्रचारित करके उन्हें नया आयाम दिया।[35] भड़काऊ साहित्य के ख़िलाफ़ उनके साहित्यिक आन्दोलन पर न केवल उनकी अपनी पत्रिका *विशाल भारत* तथा कलकत्ता और इलाहाबाद में उनके प्रतिद्वंद्वियों *मतवाला* और *चाँद* के पन्नों पर तीखी और भावुक बहस हुई, बल्कि लगभग सभी समकालीन हिन्दी साहित्यिक और राजनीतिक पत्रिकाओं में *विशाल भारत* और उसके सम्पादकीय एजेंडे को जगह मिली।[36] बनारसीदास एक सफल राष्ट्रवादी उद्यमी भी साबित हुए क्योंकि इस साहित्यिक विवाद के चलते *विशाल भारत* की प्रसार संख्या में तुरन्त काफ़ी वृद्धि हुई। जो हो, चतुर्वेदी ने अपनी सक्रियता को राष्ट्रवादी साहित्यिक अभियान के रूप में प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य था घासलेटी साहित्य के प्रभाव के चलते होनेवाले पाठक/राष्ट्र में नैतिक-भावनात्मक-यौन विचलन को रोकना। लेख के अगले हिस्से में हम चतुर्वेदी के नेतृत्व वाले निषेधायन की तर्क-भाषा की समीक्षा करेंगे।

राष्ट्रविरोधी साहित्यिक भावावेश

राष्ट्रवादी राजनीतिक लामबन्दी और घासलेटी साहित्य की लोकप्रिय माँग के बीच के विरोधाभासी सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए चतुर्वेदी ने कहा :

> हिन्दी में घासलेटी साहित्य का प्रचार ख़ासतौर से असहयोग आन्दोलन के विफल होने के बाद हुआ। अब लोगों को कोई काम नहीं रहता, तभी वे गन्दी बातें करते हैं। घासलेटी साहित्य भी जनता की ठलुआपंथी का परिणाम है।... जिस तरह थकने और निराश होने के बाद आदमियों की वृत्ति मादक द्रव्यों के सेवन की ओर हो

जाती है, उसी प्रकार असहयोग आन्दोलन के बाद कार्यक्रम-विहीन और निराश जनता ने घासलेटी साहित्य को अपनाना शुरू कर दिया है।[37]

अन्तर्निहित तर्क यह कि पाठक/जनता को भावात्मक उत्तेजना की मुसलसल दरकार है, जिसे या तो सक्रिय राष्ट्रवादी लामबन्दी या/और उसके साहित्यिक-राजनीतिक प्रिंटों से ही तुष्ट किया जा सकता था, या 'सस्ती' मनोहर कहानियों जैसे उत्प्रेरक से। उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलन में आई सुस्ती के दौर में, देश के क़ौमी जीवन में आए उत्तेजना के अभाव के कारण, जनता ऐन्द्रिक उद्दीपन के सस्ते स्तोत्र का शिकार हो गई। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक सक्रियता क़ौमी जज़्बात और उसकी सार्वजनिक-दैहिक अभिव्यक्ति को राष्ट्रीय आन्दोलन के वांछित नैतिक पथ की ओर उन्मुख करती है। लिहाज़ा घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन और कुछ नहीं बल्कि जनता-पाठक द्वारा उत्तेजना के सस्ते स्रोतों में अपनी ऊर्जा को जाया करने से रोककर, उसके उचित इस्तेमाल की हिमायत करता है।

बनारसीदास ने घासलेटी साहित्य के पठन-पाठन के सामाजिक प्रभाव के बारे में एक दिलचस्प गवाही प्रकाशित की। यह चश्मदीद उस समय के एक प्रसिद्ध राष्ट्रवादी तोताराम सनाढ्य थे, जो गिरमिटिया मज़दूर से लेखक और कार्यकर्ता बने थे, और बनारसीदास चतुर्वेदी व भवानी दयाल संन्यासी के साथ हिन्दी प्रेस में गिरमिटिया प्रथा विरोधी अग्रणी प्रचारकों में से एक थे।[38] फिजी के अपने अनुभव को याद करते हुए सनाढ्य का वृत्तान्त स्पष्ट करता है कि : घासलेटी साहित्य कैसा होता है, इसे कौन, कैसे, किन हालात में पढ़ता है, इसे पढ़ने पर पाठक की मनोदेह पर क्या गुज़रती है और किस तरह यह उसे नैतिक पतन, यौनिक भ्रष्टाचार और सामाजिक अराजकता की ओर ले जाता है।[39]

सनाढ्य के अनुसार घासलेटी साहित्य *इंदर सभा* और अन्य सस्ती मनोरंजक पुस्तकों की तरह ही था पर वह अपने आपको सुधारक के भेष में प्रस्तुत करता था। हालाँकि, उन्होंने फिजी में सामाजिक तबाही फैलाने के लिए जिस कथा को दोषी बताया, वह प्रसिद्ध लोककथा, सारंगा-सदावृक्ष की प्रेम कथा थी,[40] जिसमें दैवी शाप से ग्रसित प्रेमी युगल के सांसारिक जीवन का जीवंत नाटकीय चित्रण था : सात जन्मों की जुदाई के बावजूद प्रत्येक जीवन में सामाजिक बन्धनों को तोड़ता उनका यौनाकर्षण और अमर प्रेम पनपता रहा। अन्ततः शापित प्रेमियों को मुक्ति मिलती है और स्वर्ग में उनका मिलन हो जाता है। कुछ कहानियों में, पौराणिक सप्त ऋषियों के प्रवचन सुनने के बाद वे अन्त में तपस्वी बन जाते हैं। बहरहाल, सनाढ्य के अनुसार पवित्र धार्मिक ग्रंथों की तरह, सारंगा-सदावृक्ष कथाओं में भी भावनात्मक आभा और परिवर्तनकारी शक्ति है। लेकिन इसकी शक्ति का स्वरूप एकदम उलटा है, यह बेहद बुरी और अशुभ क़िस्म की है। सनाढ्य ने गवाही दी कि फिजी में कामलोलुप पुरुषों ने भावनात्मक रूप से वेध्य महिलाओं को फँसाने के लिए उन्हें यह कहानी सुनाई या पढ़ने को दी, इन महिलाओं ने भावुकता और कामुकता से भरी कहानी पढ़-सुनकर अपना होशो-हवास खो दिया।

सनाढ्य का मन्तव्य था, जब कोई महिला ऐसी कहानी पढ़ती/सुनती है तो उसकी इन्द्रियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, वह प्रेमालाप व भावनाओं के बारे में सोचती रहती है, जिससे उसकी रुचि घरेलू ज़िम्मेदारियों से उचट जाती है और परिणामस्वरूप यौनिक-सामाजिक सीमाओं का उल्लंघन होता है। सनाढ्य की गवाही में एक और तर्क समाहित था : दैहिक-कामुक उत्तेजना न तो अकेले पाठक में पूर्व-मौजूद रहती है और न ही पाठ (घासलेटी कहानी) में, बल्कि उत्तेजना का स्रोत पाठ और उसके एकान्तिक पाठक के बीच उभरते हुए रिश्ते में

पैबस्त होता है। मानो पाठक और पाठ, पढ़ने की प्रक्रिया में एकाकार हो जाते हैं, पाठ और पाठक (के गुण) एकमेक जाते हैं। इसलिए सनाढ्य के वृत्तान्त में भावनात्मक रूप से अस्थिर व कमज़ोर महिला के एकान्त में पढ़ने या पाठ को सुनने की प्रक्रिया, जो पति या पिता की समुचित चौकस निगाहों से दूर या बाहर घटित होता है। परिणामस्वरूप, महिला-पाठक पाठ के चरित्र की तरह बन जाती है, और अनैतिक यौन कृत्य करती है, आदि। सनाढ्य ने यह भी खुलासा किया कि इस लोकरंजक रोमांस की दो-चार मुद्रित प्रतियाँ ही फिजी में उपलब्ध थीं, फिर भी नाज़ुक मनोदेह वाले पाठकों के ज़रिये इसने समाज में नैतिक कोहराम मचा दिया। इशारा यह था कि भारत तो ऐसे कथा-साहित्य से भरा पड़ा है, किसी नैतिक निगरानी के अभाव में इसके भयंकर प्रभाव की कल्पना करना मुश्किल नहीं। सामूहिक-मशीनी पुनरुत्पादन के कारण प्रिंट मीडिया के हर जगह मौजूद होने की सम्भावना है इसलिए घासलेटी प्रिंट के भावनात्मक उकसावे को कहीं भी कभी भी अज्ञात पाठकों के बीच अनगिनत बार दोहराया जा सकता है।

इतना ही नहीं, इसके यौनिक उकसावे को कैसे रोका जाए, प्रभाव की अधिकता को कैसे नियंत्रित और नियमित किया जाए, वृत्तान्त में इन मुद्दों को भी इंगित किया गया। फिजी रिपोर्ट के मुताबिक़, (क्रोधित) प्रबुद्ध लोगों ने इन कहानियों के पढ़ने-बाँचने वालों और विक्रेताओं की सार्वजनिक रूप से पिटाई की, ताकि बढ़ती अराजकता को रोका जा सके। निहितार्थ था कि समकालीन भारतीय सन्दर्भ में इसी तरह की निवारक कार्रवाई की आवश्यकता है। इसी तर्ज पर, लेखक-प्रकाशक को दंड देने, सामुदायिक बहिष्कार करने और ऐसी मुद्रित पुस्तकों के प्रतिबन्ध का अप्रत्यक्ष आह्वान चतुर्वेदी ने भी किया। अपने साहित्यिक धर्मयुद्ध का वार्षिक आत्म-मूल्यांकन करते हुए *विशाल भारत* के सम्पादक ने जो लिखा, वह दिलचस्प (और शायद डरावना भी) था। घासलेटी साहित्य के मोटी चमड़ी वाले समर्थकों की लालची प्रवृत्ति और नैतिक पतन को रेखांकित करते हुए उन्होंने गरजते हुए कहा :

> अब तक हमने इसी आशा से कि शायद घासलेटी लेखकों की बुद्धि में कुछ परिवर्तन हो जावे और वे अपने मार्ग को छोड़कर सत्साहित्य के निर्माण की ओर ध्यान दें, अपने आन्दोलन को समाचार-पत्रों तक ही परिमित रखा था, पर हम देखते हैं कि इससे उन लोगों का साहस उलटा बढ़ गया है। इसलिए अब समय आ गया है हम साधारण जनता तक इस आन्दोलन को ले जावें और उसके प्रबल दबाव से इन लोगों को अपनी साहित्यिक गति बदलने के लिए बाध्य करें।...सार्वजनिक सभाओं द्वारा जब तक इन लोगों का विरोध [व बहिष्कार] न होगा, जब तक इनकी किताबें पुस्तकालयों से न निकाल दी जावेंगी, जब तक उन पुस्तक विक्रेताओं का जो घासलेटी पुस्तक बेचते हैं, प्रबल विरोध न होगा, जब तक घासलेटी लेखकों पर निंदात्मक प्रस्ताव पास न किये जाएँगे, तब तक इन लोगों की अक़्ल ठिकाने नहीं आवेगी।[41]

चतुर्वेदी ऐसे साहित्य के ख़ात्मे और लेखक-वितरक के संगठित सामाजिक विरोध-बहिष्कार से कम कुछ भी न चाहते थे। लेकिन सिर्फ़ साथी प्रबुद्ध साहित्यिक समुदाय और संस्थाओं (जैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि) के समर्थन से ही इस काम में पूरी सफलता हासिल नहीं हो सकती थी। घासलेटी साहित्य के शिकार पाठक/जनसमूह को सुधार और संगठित करके ही वे अपने इच्छित परिणाम पा सकते थे। दूसरे अन्दाज़ में कहें तो राष्ट्रवादी

योद्धा एक तरफ़ तो ऐन्द्रिक भोग-विलास के प्रति कमज़ोर पड़ जाने के लिए घासलेटी साहित्य के पाठक-जनसमूह को फटकार लगाते थे तो दूसरी ओर वे उनके ऊर्जावान शरीर को मनोरंजन की कामोत्तेजक पुस्तकों के विरुद्ध संगठित करना चाहते थे। निहितार्थ यह था कि राष्ट्रवादी लामबन्दी, उनके दूषित-पतित साहित्यिक-सांस्कृतिक आस्वाद को शुद्ध और परिमार्जित करेगी और उन्हें उत्कृष्ट राष्ट्रवादी पाठक के रूप में ऊपर उठाएगी। जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस तरह के नैतिक सुधारवाद का विरोधाभास तब और बढ़ गया जब सुधारकों ने घासलेटी साहित्य के आकर्षण और प्रभाव को गन्दगी और प्रदूषण के रूपक की तरह दिखाते हुए उसकी निंदा की। उन्होंने पाठक-जनता को पतित, अछूत और बहिष्कृत करार दिया और आह्वान किया कि उनकी साहित्यिक भूख और सामाजिक चरित्र को सुधारवादी अग्रदूतों की सक्रिय मध्यस्थता द्वारा शुद्ध, सभ्य और परिष्कृत बनाया जाना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में नैतिक सुधार, शुद्धता, प्रदूषण, दूरी और सोपानक्रम की यह भाषा सामाजिक क्षेत्र में जाति-सुधार की पुनरुत्थानवादी भाषा के साथ सहजता से घुल-मिल गई।

III

राष्ट्रवादी निषेधायन और जाति-भेद की भाषा

घासलेटी साहित्य की भावनात्मक शक्ति का उपहास करते हुए *विशाल भारत* के जनवरी 1929 के अंक में दो कार्टून प्रकाशित हुए। दोनों कार्टूनों के सम्पादकीय विवरण में चतुर्वेदी ने लिखा :

> दो व्यंग्य चित्र साथ ही प्रकाशित किये जाते हैं। पहले का विषय स्पष्ट है। घासलेटी साहित्य के दुर्गंध से लोगों को नाक बन्द करनी पड़ी है। दूसरे का परिचय यह है कि अंडमान द्वीप (कालेपानी) के आदिम निवासी एक लेखक का स्वागत कर रहे हैं। हाथों में चमगीदड़ों की माला है। लेखक महोदय इससे बहुत प्रसन्न प्रतीत होते हैं। 'आख़िर बड़े बड़ेन पहचाना'![42]

पहले कार्टून '*हिन्दी साहित्य सम्मिलन*' (चित्र 11) में, घासलेटी साहित्य को मानव मल के बराबर और उसके लेखक और वाहक को भंगी की तरह हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मजलिस में प्रवेश करते दिखाया गया है। जिस तरह मल का (अव)गुण अपनी वाहक देह (भंगी) को अपना चलता-फिरता मानव विस्तार बना देती है, उसी तरह साहित्यिक-मल भी अपने लेखक-प्रसारक को। साहित्यिक-मल का सान्निध्य अपने वाहकों—लेखक, वितरक या पाठक—को अपने जैसा बना लेता है। भंगी की तरह वे भी दैहिक, ऐन्द्रिक, नैतिक और सांस्कृतिक प्रदूषण के एजेंट बन जाते हैं।[43] इसलिए साहित्यिक सम्मेलन में मौजूद भीड़ (जो कार्टून में शिक्षित मध्यवर्ग के रूप में चित्रित हैं) ऐसे साहित्यिक भंगी की घृणित उपस्थिति से हैरान-परेशान है। वे उसके दूषित साहित्यिक टिन-पात्र से निकलती बदबू को बर्दाश्त नहीं कर पा रहे हैं। सनाढ्य की रिपोर्ट में छपे सामाजिक अभिभावक की छवि के उलट वे इतने सभ्य और शुद्ध हैं कि उसे लात मारकर भगाने के लिए वे उसके पास भी नहीं जा सकते!

बहरहाल, पाठक के चरित्र (में बदलाव) के ज़रिये उसी लेखक (और साहित्य) के सत्कार में होने वाले भेद को दूसरे कार्टून 'स्वागतम्' (चित्र 12) में उजागर किया गया है। राष्ट्र के सभ्य अभिजात सदस्यों के विपरीत आधुनिकता से अछूते बर्बर साहित्यिक आस्वाद



चित्र 11



चित्र 12



चित्र 13

वाले पाठक, जिनके बीच साहित्यिक-सामाजिक शुद्धता के मानदंड, व्यवस्था और सोपानक्रम ग़ैरमौजूद है, मलिन-साहित्य से उत्साहित और आनन्दित होते हैं, उसके लेखक के आगमन पर रोमांचित और पागल हो रहे हैं। ग़ौरतलब यह भी है कि पहले कार्टून में जहाँ साहित्य-रसिक शहराती जनता के आगे जहाँ लेखक को न्यूनतर सामाजिक हैसियत का दिखाया गया, वहीं दूसरे में लेखक अपने प्रिय (असंस्कृत) पाठकों के सामने श्रेष्ठ हैसियत का है। एक ही लेखक के दो काया-रूपों या उसके कपड़ों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अगर साहित्यिक परिदृश्य इतना ही गन्दा और दूषित था, जहाँ (भावी राष्ट्रवादी) पाठक पतित-उपेक्षित व्यक्ति के रूप में ही उपलब्ध हैं, तो इसका समाधान क्या था? क्या गन्दगी से दूरी बनाए रखना पर्याप्त था, जैसा सम्मेलन के सभ्य सदस्य करते हुए दिख रहे थे? मल, चाहे वह मानव का हो या साहित्यिक, उसमें यह गुण-शक्ति होती है कि वह अपने नज़दीकी या सटे पात्र में अपना गुण व शक्ति हस्तान्तरित कर उसे भी मलिन कर दे! ऐसी नाज़ुक स्थिति में यह कार्यबोझ राष्ट्रवादी अग्रदूतों पर था कि वे घासलेटी प्रदूषण से दूषित हुए बिना साहित्यिक परिदृश्य को प्रदूषणकारी तत्त्वों से मुक्त करने की क्षमता और कौशल कैसे दिखाएँ!

इस आलोक में *विशाल भारत* में प्रकाशित काशी विद्यापीठ के शिक्षक और उपनिवेशवाद-विरोधी कार्यकर्ता चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के तर्क दिलचस्प थे। 'घासलेटी' साहित्य के सन्दिग्ध सुधारवादी दावों (कि वह सामाजिक बुराइयों को उजागर करता हुआ मार्मिक व भावुक गद्य होता है; वह मनोरंजक तथा सनसनीख़ेज़ कथा-शिल्प के ज़रिये पाठकों को सुधारवादी सरोकारों की ओर झुकाने में प्रभावी होता है और इस प्रकार राष्ट्र की कमज़ोरियों से मुक्ति में सहायक है, आदि) के विरुद्ध तर्क देते हुए विद्यालंकार ने लिखा :

> गन्दगी को आकर्षक रूप में पेश करनेवाले लोगों को प्रतिक्षण यह ध्यान रखना चाहिए कि यह 'गन्दगी' गन्दगी होते हुए भी साधारण मनुष्य-समाज के हृदय को चुंबक की तरह से अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, इसलिए गन्दगी का प्रदर्शन ज़िम्मेदारी के साथ करना चाहिए। *शहर की सफ़ाई का दारोग़ा भी शहर की सफ़ाई का निरीक्षण करता है, और टट्टियाँ साफ़ करने वाले भंगी को भी प्रतिदिन गन्दगी से पाला पड़ता है, परन्तु इन दोनों की दृष्टियों में सदैव अन्तर रहता है। दारोग़ा की तरह भंगी अपने को गन्दगी से पृथक नहीं रख सकता।*[44] (ज़ोर हमारा)

विद्यालंकार ने दरअसल साफ़ किया कि राष्ट्र के शिक्षित अग्रणी, सफ़ाई-दारोग़ा की तरह की (सामाजिक) हैसियत के कारण प्रदूषक-साहित्य के ऐन्द्रिक स्पर्श से दूरी बनाए रखने में कुशल व सक्षम होते हैं। वे साहित्यिक-सामाजिक गन्दगी के बीच मौजूद होकर भी ज़रूरी भावात्मक दूरी बरतते हुए उसकी सफ़ाई का आह्वान और निगरानी (स्वयं) कर सकते हैं। लेकिन नाज़ुक भावात्मक-सामाजिक हैसियत वाले अधीनस्थ वर्ग या पाठक जन ऐसा नहीं कर सकते, और इसलिए इसके प्रलोभनों के प्रति कमज़ोर साबित होते हैं। शायद इशारा यह भी था कि जैसे अपनी निम्न सामाजिक क्षमता के कारण मल से जूझना भंगी की नियति थी, वैसे ही भावात्मक नियति निम्नवर्ग के पाठक की भी थी। इतना ही नहीं, नैतिक-भावात्मक ज़ख़्मों के ख़तरों के बावजूद ये कमज़र्फ़ पाठक मलिन साहित्य का रसास्वादन भी करते थे।

ज़ाहिर है, चाहे वह विद्यालंकार का निबन्ध हो या चतुर्वेदी के सम्पादकीय कार्टून, साहित्यिक शुद्धता की भाषा बड़ी सुविधा से जातीय/सामाजिक शुद्धता की भाषा के साथ जुड़ गई। उदाहरण के लिए, इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली अल्पकालिक पत्रिका *भारतेन्दु* में प्रकाशित कार्टून *घासलेटी सज़ा* (चित्र 14)[45] ने विद्यालंकार के सामाजिक रूपक को अक्षरश: चित्रित किया। बहरहाल, इस कार्टून की शायद एक और विशेषता है। जाति की भाषा की सीमाओं के भीतर ऐसे निम्न वर्गीय पाठक-अनुयायी की कल्पना करने की कोशिश की गई जो सीधे ऐन्द्रिक स्पर्श के बिना साहित्यिक गन्दगी को साफ़ करने के राष्ट्रीय दायित्व को निभा सकें।

व्यंग्य-चित्र *घासलेटी सज़ा* में राष्ट्रवादी सम्पादक-योद्धा (*विशाल भारत*) को बतौर सफ़ाई-दारोग़ा निरूपित किया गया, जो अधीनस्थ भंगियों को शहर की नालियों में घासलेटी साहित्यकारों (*मतवाला* मंडल) को झाड़ू लगाकर बहा देने का निर्देश दे रहा है। अगर हम जातिवादी रूपक और अन्यार्थ के अपने पाठ को थोड़ा और नज़दीक से पढ़ें तो हम कह सकते हैं कि यहाँ भंगी लोग लम्बी झाड़ुओं से लैस हैं, 'घासलेट' की मलिन देह के सीधे सम्पर्क में आने के जोखिम से बचते हुए, उनसे दूरी बनाकर उन्हें नाले में दूर धकेल रहे हैं। नाले में आधा डूबा काले शरीर और मूँछ वाला मलिन-साहित्य का लेखक, जिसका चेहरा हूबहू भंगियों जैसा है, माफ़ी की भीख माँग रहा है। शायद वह भंगी से, जो उसके नापाक साहित्य का (भंगी) पाठक भी हो सकता है, अनुरोध कर रहा है कि वह उसे बचा लें। परन्तु राष्ट्रवादी निरीक्षक के मातहत साहित्य की सफ़ाई में सक्रिय निम्न वर्गीय कार्यकर्ता उसकी सुन नहीं रहा। किरदारों की अवस्थिति भी ग़ौर करने लायक़ है : सबसे नीचे है मल-साहित्य वाहक (*मतवाला*), उससे ऊँचे पटल पर, नाले की मुँडेर पर सफ़ाईकर्मी, और उससे दूरी बनाए और ऊपर है राष्ट्रवादी निरीक्षक (*विशाल भारत*)।

इन मायनों में यह कार्टून आत्म-तुष्टिकारी सुधारवादी चाहत को भी व्यंजित करता है : साहित्यिक पर्यवेक्षक के कुशल मार्गदर्शन में अधीनस्थ या साधारण पाठक-जन को राष्ट्रवादी पैदल सैनिकों में परिवर्तित किया जा सकता है। उनकी जिस्मानी ऊर्जा को राष्ट्र के साहित्यिक परिदृश्य को शुद्ध और साफ़ करने के लिए और ऐन्द्रिक उत्तेजना के सस्ते स्रोतों को ख़त्म करने के आन्दोलन में लगाया जा सकता है। उसके बाद ही शायद सम्पादक/निरीक्षक चतुर्वेदी, पाठक-जन को अपने राष्ट्रवादी (और वाणिज्यिक) प्रतिष्ठान की ओर आकर्षित कर सकते हैं। तभी पाठक-दर्शक को राष्ट्रवादी साहित्यिक प्रभावों से लैस 'रंगीन और भावनात्मक रूप से गम्भीर छवियों', 'शिक्षाप्रद निबन्धों', 'मनोरंजक कहानियों' और 'शृंखलाबद्ध उपन्यासों' के साथ-साथ 'मनोरंजक कार्टूनों', 'ग्राफ़िक निबन्धों' और 'उत्तेजक साहित्य के नाज़ुक

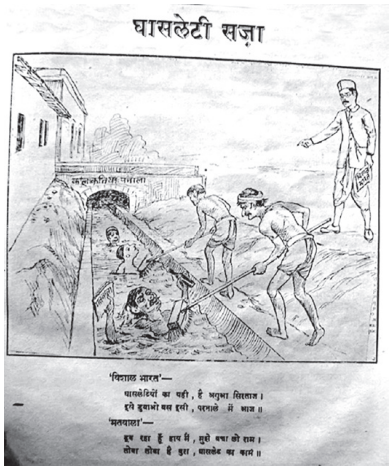

चित्र 14

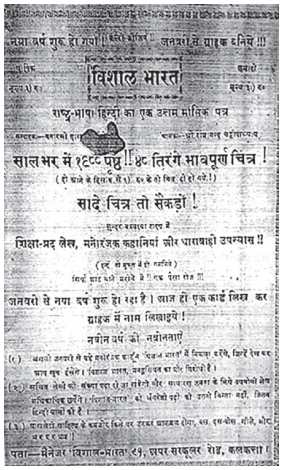

चित्र 15



चित्र 16

क़िले पर धमाकेदार हमलों' को पढ़कर अपनी इन्द्रियों की राष्ट्रवादी सन्तुष्टि पा सकते हैं, तभी वे रियायती मूल्य पर उपलब्ध उनकी पत्रिका ख़रीद सकेंगे![46] *विशाल भारत* के विज्ञापन (चित्र 15) में यह साफ़ झलकता है।

हम यहाँ एक अनुवर्ती प्रश्न जोड़ सकते हैं : क्या सामान्य पाठक-समूह को राष्ट्रवादी समूह में परिवर्तित और परिशुद्ध किया जा सकता था? अगर हाँ, तो वे कैसे दिखते? हमारे पास उनकी स्पष्ट तसवीर नहीं है। वैचारिक सांकेतिकता में, जैसा कि चतुर्वेदी ने विमर्श प्रस्तुत करते हुए महसूस किया था, सामान्य पाठक-समूह राष्ट्रवादी राजनीतिक जुनून से प्रेरित होने के लिए तैयार व्यक्तियों के समूह में रूपान्तरित नज़र आते। इस लिहाज़ से सम्भवत: वे उस राष्ट्रवादी भीड़ के अलग-अलग छवि स्वरूपों में दिखाई भी दे रहे थे, जो हिन्दी पत्रिकाओं और अख़बारों में राजनीतिक लामबन्दी और आन्दोलन के कवरेज का हिस्सा थीं। जैसे *भविष्य* के आवरण पर छपी अनुशासित गतिशील महिला कार्यकर्ता-देहों को आदर्श रूप में पेश करता चित्र 17 क़ाबिल-ए ग़ौर है।[47]

जो भी हो, चतुर्वेदी जैसे लोगों का कामोत्तेजक साहित्य के ख़िलाफ़ विशेष आक्रोश था, वे मुख्यत: मानक लैंगिक, वैवाहिक और यौनिक आकांक्षा की सीमाओं का उल्लंघन करने के ख़िलाफ़ थे। लेकिन यहाँ इशारा करना प्रासंगिक होगा कि इस तरह का निषेध-अभियान किसी भी भावनात्मक अतिरेक को सन्देह की नज़र से देखता था। जैसे चतुर्वेदी के सन्देह के दायरे में तत्कालीन व्यंग्य-साहित्य भी आया, क्योंकि व्यंग्य तकनीकों में अतिरेक का इस्तेमाल केन्द्रीय होता है।[48]

उपसंहार

पाठक-छवि के ज़रिये हमने इस लेख में हिन्दी राष्ट्रवादी विधि-निषेध के स्वरूप का ख़ाका खींचने की कोशिश की है। हमने दिखाया है कि साहित्य के मोहपाश में बँधे, ऐन्द्रिक सुख में तल्लीन पाठक की छवियों में पैबस्त विमर्श राष्ट्रवादी अग्रदूतों की नैतिक चिन्ता व दुशवारी के सूचकांक हैं। इन छवियों के विमर्श बताते हैं कि आसानी से उपलब्ध ऐसा सस्ता मुद्रित साहित्य, ख़ासकर उपन्यास और अन्य (काम) भावना प्रधान मनोरंजक रचनाएँ, गुमनाम

और एकाकी पाठकों को मोहित कर चाहत और लालसा की ख़याली दुनिया में डुबो देते हैं, उनकी इन्द्रियों में अनैतिक कामनाओं को प्रज्वलित करते हैं, उनकी मनोदेह को अनैतिक कार्यों के लिए उकसाते हैं, जिसके सन्दिग्ध सार्वजनिक सामुदायिक (कु)प्रभाव होते हैं। इसी के मद्देनज़र साहित्य के ऐन्द्रिक और जिस्मानी असरात से आम पाठकों को बचाने के लिए हिन्दी राष्ट्रवाद ने दैनन्दिन स्तर पर नैतिक-शैक्षणिक अभियान चलाया। रोज़मर्रा के स्तर पर राष्ट्रवादी सन्देह और नैतिक अस्वीकृति की अभिव्यक्ति पाठकों की सामान्य नैतिक चूक व मूर्खता पर व्यंग्यात्मक चेतावनी के रूप में हल्की-फुल्की फटकार के साथ हुई। लेकिन गरम और गतिशील राजनीतिक परिघटनाओं वाले दौर में विरोध का स्वरूप और भाषा, दोनों आक्रामक हो गए, संस्थागत निषेध और सामाजिक बहिष्कार का राजनीतिक आह्वान होने लगा। साहित्य और उसके पाठक के साथ लेखक-प्रकाशक भी निंदा, निषेध और बहिष्कार के शिकार बने। हमने यह भी दिखाया कि बन्दिश-बहिष्कार के आह्वान की भाषा जाति बहिष्कार की ब्राह्मणवादी भाषा के साथ सुभीते से जुड़ गई। मनोरंजन, यौनिक चाहत और एहसासात की विषय-वस्तु वाले साहित्य की प्रेमी पाठक-जनता को गन्दगी में काम करने वाले भंगी के रूप में चित्रित किया गया। (राष्ट्रीय) कर्तव्यों और ज़िम्मेदारियों से बेख़बर मनोरंजक साहित्य में आसक्त पतित पाठक की छवि, जो दरअसल राष्ट्रवादी कामना के अनुरूप आदर्श पाठक-जनता के ठीक विपरीत थी, में आदर्श राष्ट्रीय-पाठक की अनुपस्थित या भावी मौजूदगी का इकरार भी था। राष्ट्रवादी अग्रदूतों के नैतिक निर्देशन और निगरानी के तहत (निम्न साहित्यिक रुचि और वर्ग की) इसी पाठक-जनता को परिष्कृत होकर उत्कृष्ट साहित्यिक प्रभाव का उपयोक्ता बनना था। दूसरे अल्फ़ाज़ में, अनुचित साहित्य और उसके प्रभाव को प्रतिबन्धित करने के अभियान द्वारा राष्ट्रवादी अग्रदूत ऐसे साहित्य के लिए ज़मीन तैयार करना चाहते थे, जो पाठकों में ठस राष्ट्रवाद के लिए अनुकूल अयौनिक (एसेक्सुअल) जुनून पैदा करे। दोनों ही स्थितियों में राष्ट्रवादी निषेधायन का उद्देश्य सार्वजनिक रूप से साहित्यिक प्रभाव को नियंत्रित और (पुनः) निर्देशित करने का ही रहा।

[प्रो. गजेन्द्र पाठक और आशुतोष पांडेय का शुक्रिया, इस लेख के पहले मसौदे को हिन्दी विभाग, हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय में अगस्त 2023 में आयोजित अन्तरराष्ट्रीय सेमिनार 'औपनिवेशिक भारत में प्रतिबन्ध' के लिए लिखा गया। रविकांत, सदन झा, मृत्युंजय और रमाशंकर सिंह की टिप्पणी, सलाह और मदद के बिना यह लेख कमतर रहता।]

सन्दर्भ

1. यूजीन वेबर (1976).
2. आलोक राय (2001). 1900 में हिन्दी को अदालती भाषा का दर्जा मिला था। इस ऐतिहासिक परिघटना को राय 'मैकडॉनल क्षण' कहते हैं।
3. फ्रेंचेस्का ऑर्सिनी (2002); सुजाता मोदी (2019); सोबना निझावन (2012); सोबना निझावन (2019); चारु गुप्ता (2001).

4. विलियम माज़रेला (2013). ऐन्द्रिक इतिहास-लेखन की ख़ासियत और पद्धति के सुन्दर, संक्षेपित जानकारी के लिए देखें मार्क एम. स्मिथ (2007).
5. *चाँद*, नवम्बर 1937.
6. *चाँद*, दिसम्बर 1931.
7. *चाँद*, जून 1940.
8. *चाँद*, अक्टूबर 1926.
9. यह आठ ब्लॉकों की कार्टून स्ट्रिप में से चौथी है। *चाँद*, सितम्बर 1935.
10. *चाँद*, नवम्बर 1931.
11. यूरोपीय/अंग्रेज़ी उपन्यास-विरोधी विमर्श में पढ़ने वाली महिला छवि के दिलचस्प अध्ययन के लिए देखें, विलियम बी. वार्नर (2000); विलियम बी. वार्नर (1998) : 128-176. भारतीय सन्दर्भ में ऐसे शोध नज़र में नहीं आते हैं, जबकि साहित्यिक अभिलेखागार में ऐसी छवियाँ भरी पड़ी हैं।
12. *चाँद*, नवम्बर 1934.
13. *चाँद*, सितम्बर 1932.
14. समकालीन गद्य कथाओं में आकृति-चित्रण का एक तीसरा प्रकार भी है : अजनबी पुरुषों की घूरती आँखों से बचने के लिए सार्वजनिक स्थान पर पढ़ती एक महिला। अक्सर ऐसे चित्रों में सांकेतिक रूप से महिला शैक्षिक प्रिंट पढ़ रही होती हैं।
15. वार्नर, 'स्टेजिंग रीडर रीडिंग' : 397.
16. जेराल्डीन फ़ोर्ब्स (1996); सुमित सरकार व तनिका सरकार (2008); राधा कुमार (2002); कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (1989).
17. आधुनिक मशीनी घड़ी संचालित दफ़्तर/औद्योगिक कार्य और लय के औपनिवेशिक भारतीय स्वरूप का सांस्कृतिक अध्ययन कुछ ख़ास नहीं हुआ है, प्रारम्भिक जानकारी के लिए देखें सुमित सरकार(1997) : 190; रंजीत गुहा (2008).
18. हिन्दी में शुरुआती लोकप्रिय उपन्यासों सहित विभिन्न प्रकार के मनोरंजक साहित्य के विस्तृत अध्ययन के लिए देखें फ्रेंचेस्का ऑर्सिनी (2009).
19. ज़्यादा विस्तार और विश्लेषण के लिए देखें, सुजाता मोदी (2020).
20. यह कई बार छपा। दृश्य गुणवत्ता के लिहाज़ से मैंने *चाँद*, मार्च 1930 में प्रकाशित संस्करण का उपयोग नहीं किया है। *चाँद*, जून 1940.
21. यहाँ एक और बात का ध्यान देने लायक़ है : इस चित्र में 'चाहत' या 'लालसा' के भाव को महिला-रूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि हम इस अलंकरण को उपन्यास पढ़ने वाली महिला की पिछली छवियों में प्रक्षेपित करते हैं, तो मनोरंजन के लिए पढ़ने का कार्य स्वयं एक कामोत्तेजक कार्य बन जाएगा।
22. यहाँ साहित्य के रोमांटिक दृष्टिकोण पर ज़ोर देने वाले राष्ट्रवादी विमर्श के क्रमिक और बदलते इतिहास को याद करना उचित होगा। राष्ट्रवादी विमर्श के (चक्रीय) तर्क में, राष्ट्र की भावना उसके साहित्य में स्थित थी; राष्ट्रवादी भावना के बग़ैर कोई साहित्य सच्चा साहित्य नहीं हो सकता; दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत साहित्य ही, साहित्य कहलाने के योग्य हो सकता है। बेहतर ऐतिहासिक समझ के लिए देखें, हंस हार्डर (2010); विनय धारवाड़कर (1993) : 158-185.
23. मसलन, हिन्दी में 'अच्छे' साहित्य की अनुपलब्धता और अश्लील व सतही लेखन की भरमार की आलोचना करने के बाद, सत्यदेव (अमेरिका) ने 'हिन्दी साहित्य और हमारा काम' (*सरस्वती*, अक्टूबर, 1909) में, भ्रातृत्व व सांस्कृतिक जुड़ाव की राष्ट्रीय भावना को बढ़ावा देने वाले नये और उपयोगी साहित्य की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए साहित्य की महानता और प्रासंगिकता का ज़िक्र कुछ यूँ किया : "किसी समाज या जाति की सभ्यता का इतिहास उसके प्रत्येक काल के साहित्य से मालूम हो जाता है...एक शताब्दी बाद जब हमारी सन्तान हिन्दी के प्रचलित ग्रंथों को पढ़ेगी तब

क्या कहेगी! भीष्म-द्रोण की सन्तान ऐसी विषयासक्त!...सुन्दर भाषा [और उसका साहित्य] गिरे हुए लोगों को उठाती है, मुर्दों में जान डाल देती है, बुज़दिलों को बहादुर बना देती है, आत्मा को योग का रस चखाती है; बुरी [...] पुस्तकें आचार को भ्रष्ट करती हैं, मन में बुरे से बुरे बीज बोती हैं... इधर-उधर के फ़ज़ूल 'संततियों' की रचना करना लेखकता नहीं है...किसी प्रकार का विषय क्यों न हो सबसे पहले लेखक यह निश्चय कर ले कि मैं ऐसी बात कहूँगा जिससे पाठकों की उन्नति ज़रूर होगी। वह उन्नति शारीरिक, सामाजिक, मानसिक, आत्मिक किसी तरह की क्यों न हो।" (लेखक बाद में स्वामी सत्यदेव के नाम से विख्यात हुए)। इसी प्रकार, समकालीन पत्रिकाओं में, ख़ासकर 1920 के दशक से, साहित्य और युगधर्म (राष्ट्रवाद/ उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलन/ जन संघर्ष के काल के लिए प्रयुक्त व्यंजना) के बारे में ढेरों निबन्ध मिलते हैं। भले ही साहित्य की प्रकृति और उद्देश्य, लेखकों की स्वायत्तता और ज़िम्मेदारी, पाठकों के सोपानक्रम और उनकी मुख़्तलिफ़ साहित्यिक रुचि आदि पर पर्याप्त मतभेद मौजूद थे, लेकिन ये मतभेद इस एक साझे विश्वास से निकले थे कि साहित्य में अपने पाठकों को बदल देने की अद्भुत शक्ति होती है। उदाहरण के लिए देखें, श्रीयुत रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, 'साहित्य और युगधर्म', *युवक,* जून 2019.

24. इसलिए, साहित्य के राष्ट्रवादी पहरेदारों ने लेखकों को भी उनके लिखे के प्रभावों की ताक़त के कारण सतर्कता बरतने के लिए कहा और लेखन-कर्म को नये अर्थ और ज़िम्मेदारी से नवाज़ा : लेखक को पाठकीय प्रभावों का निर्माता और नियंत्रणकर्ता माना। हालाँकि लेखक की अवधारणा में इस नये निवेश को पिछली सदी में हरिश्चन्द के निबन्ध में देखा जा सकता है जब वह वशीकरण और लेखन के बीच में समान्तरता दिखा रहे होते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'लेखक और नागरी लेखक' *भारतेन्दु समग्र (2000),* 1060-1066. लेकिन इस विचार का आह्वान और प्रसार बीसवीं सदी में आमफ़हम हो गया। इसलिए, अक्सर यह तर्क दिया जाता था कि पाठकों को जादुई, पौराणिक और कल्पनालोक में खींचने के बजाय, लेखक को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उसका लेखन पाठक को वर्तमान वास्तविकताओं (मूर्त समस्याओं) के प्रति जागरूक और संवेदनशील बनाए। साहित्यिक यथार्थवाद पाठकों में ऐसी भावनाएँ जगाएगा जो सुधार, आधुनिकता और विदेशी शासन से स्वतंत्रता की राष्ट्रवादी परियोजनाओं के अनुकूल होंगी। इसलिए, राष्ट्रवादी उपन्यास-विरोधी विमर्श का एक पक्ष आधुनिक फ़ंतासी उपन्यासों, ऐतिहासिक रोमांस और उनके लेखकों को निशाना बनाता रहा। अविनाश कुमार ने, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की (किशोरीलाल गोस्वामी सरीखे लेखकों के) ऐतिहासिक-परिघटनात्मक रोमांचक उपन्यास की कटु आलोचना और मामूली व रोज़मर्रा जीवन को उपन्यास का हिस्सा बनाने के आह्वान के हवाले से, इस मुद्दे की पड़ताल की है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, 'हिन्दी भाषा के उपन्यास लेखकों के नाम', *गुलेरी रचनावली* (1986), 523-527. कुमार के तर्कों को आगे बढ़ाते हुए यह माना जा सकता है कि लेखकों से 'साधारण' को सौन्दर्यपूर्ण बनाने का आह्वान किया गया, ताकि पाठक पौराणिक या हवा-हवाई दुनिया से सामाजिक दूरी बनाकर साधारण के साथ तादात्म्य महसूस कर सकें। अविनाश कुमार (2001).
25. 'उग्र' की व्यावसायिक रूप से सफल सामाजिक रोमांस के गहन अध्ययन के लिए देखें, फ्रेंचेस्का ऑर्सिनी (1999). बकौल ऑर्सिनी, उग्र के साहित्यिक प्रयोग में पत्र-केन्द्रित उपन्यास ने सामाजिक सुधार के विमर्श तथा उत्तेजक प्रेमाख्यान को मनोरंजक उपन्यास-रूप में गूँथ दिया। इस प्रकार उग्र ने रोमांस की सामाजिक स्वीकृति या व्यक्ति के प्यार करने, महसूस करने और भावनाओं की सार्वजनिक अभिव्यक्ति के अधिकार को वैधानिकता प्रदान करने की ऐतिहासिक-साहित्यिक आवश्यकता को समायोजित किया।
26. कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस बहस के सभी प्रतिभागियों ने राष्ट्रवादी होने का दावा किया, लेकिन सुधारवादी गद्य की भाषा व भाव की सीमाओं के सवाल तथा साहित्य में सेंसरशिप के मुद्दों पर मुख़्तलिफ़ रुख़ अपनाए।
27. चारु गुप्ता, सुमन्त बैनर्जी, आनन्दिता घोष जैसे कई विद्वानों ने उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी पितृसत्ता

की साझी ज़मीन को बख़ूबी रेखांकित किया है, जिसके तहत लोकप्रिय और मनोरंजक प्रिंट को 'अश्लील' और 'गन्दा' बताया गया। उन्होंने यह भी दिखाया है कि ऐसी (पितृसत्तात्मक) चिन्ता और निषेध की इच्छा इस विश्वास के आधार पर फली-फूली कि आम (महिला) पाठकों या अपरिपक्व जनसमूह में 'स्वायत्त निर्णय लेने की क्षमता की कमी' होती है। मैजारेला की अन्तर्दृष्टि को उनके ऐतिहासिक अवलोकन में जोड़ते हुए, हम यह कह सकते हैं कि विधि-निषेध वस्तुत: रचना-पाठ से ज़्यादा आम पाठकों में पाठ के प्रभाव और उसके प्रबन्धन के बारे में होती है। चारु गुप्ता(2001); सुमन्त बनर्जी (1989); अनन्दिता घोष (2006).

28. कल्याण चटर्जी (2020).
29. ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के ख़िलाफ़ भारतीय राष्ट्रवादी संघर्ष के लिए अन्तरराष्ट्रीय समर्थन जुटाने की काफ़ी कोशिशें हुईं। इसी सिलसिले में, अमेरिका में प्रवासी भारतीय द्वारा इंग्लैंड के ख़िलाफ़ अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम की सामूहिक स्मृति को उभारा जा रहा था। वहीं अमेरिका के अपने उपनिवेश फिलीपींस को लेकर घरेलू राजनीति भी गरम थी। ऐसे जटिल सन्दर्भ में अमेरिकी पत्रकार मेयो की किताब एक राजनैतिक मंच बन गई। पॉल टीड (2003). मेयो ने सांस्कृतिक रूढ़िवादिता और नस्लीय रूपकों का इस्तेमाल कर फिलीपींस और भारत को औपनिवेशिक 'अन्य' की प्रतिगामी छवि में पेश किया। दुनिया भर में संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को सक्रिय समर्थन दिया। क्रिस्टीना ए. जोसेफ़ और आनन्दम पी. कावूरी (2007) : 55-84. मेयो की किताब और वैश्विक स्तर पर इससे जुड़े विवाद ने जेंडर, राष्ट्र और साम्राज्य की राजनीति के अन्त:सम्बन्धों में उभरे ऐतिहासिक बदलाव को चिह्नित किया, जिसने 'राजनीतिक' और 'सामाजिक', 'राज्य' और 'समाज' के वैमर्शिक रिश्तों को पुन: परिभाषित किया। मृणालिनी सिन्हा (2006).
30. बकौल मृणालिनी सिन्हा, मेयो का उद्देश्य यह दर्शाना था कि 'भारत की सभी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का एक ही कारण है, ...जो औपनिवेशिक राज्य या उसकी नीतियों की प्रकृति में पैबस्त नहीं...(बल्कि) हिन्दू धर्म की मान्यताओं और प्रथाओं के मूल [में है, और उसे वहीं] खोजा जाना चाहिए।' सिन्हा, *स्पेक्टर ऑफ़ मदर इंडिया,* 5. हिन्दी सम्पादकों ने मेयो की बहसों का कई तरह से जवाब दिया। कुछ ने तो सीधे व्यक्तिगत हमला कर प्रत्युत्तर दिया, उदाहरण के लिए देखें कलकत्ता के व्यंग्य साप्ताहिक *हिन्दू पंच* (1 मार्च, 1928) में मेयो पर छपी कार्टूनों की शृंखला।
31. चतुर्वेदी ने उग्र की कहानियों पर अपनी राय महात्मा को पत्र लिखकर बताई, और महात्मा ने चिट्ठी के आधार पर जो प्राथमिक टिप्पणी भेजी उसे चतुर्वेदी ने ख़ुद के समर्थन में प्रचारित किया। कहानियाँ पढ़ने के बाद महात्मा ने अपनी पिछली टिप्पणी वापस ले ली, जो उन्होंने चतुर्वेदी के संक्षिप्त विवरण के आधार पर बनाई थी। उन्होंने चतुर्वेदी को बाक़ायदा लिखा कि पुस्तक का उद्देश्य शुद्ध है। उन कहानियों ने महात्मा पर वैसा प्रभाव नहीं डाला था जैसा कि चतुर्वेदी पर डाला होगा। चतुर्वेदी ने महात्मा की प्रतिक्रिया को दबा दिया और अपना आन्दोलन जारी रखा। उन्होंने कई साल बाद स्वयं यह बात क़बूल की। रामविलास शर्मा (1972). इस बहस को मैनेजर पांडेय ने (लेखकीय-साहित्यिक) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अश्लीलता और सुधार के सीमित समकालीन परिप्रेक्ष्य में फिर से देखा है। मैनेजर पांडेय (2017) : 128-39. इस विवाद के मद्देनज़र सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से साहित्य में ग्राम्यता (वल्गैरिटी) और प्रतिबन्ध के सवाल को परखने के लिए देखें, नलिन विलोचन शर्मा (1946).
32. इस कहानी-संग्रह पर रूथ वनिता ने लम्बी समीक्षात्मक टिप्पणी लिखी है, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', *चॉकलेट एंड अदर राइटिंग्स ऑन मेल-मेल डिज़ायर,* अनुवाद और भूमिका, रूथ वनिता (2006). प्रेस और *मतवाला* पत्रिका के ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में जानने के लिए देखें, शर्मा, *निराला की साहित्य साधना;* कर्मेन्दु शिशिर.

33. चाँद प्रेस (और इसके प्रकाशक, रामरख सिंह सहगल) पर कई निबन्ध प्रकाशित हुए। सम्पादकीय कार्टून भी देखें, 'अबला या सबलू?' (कमज़ोर महिला या छद्मवेश में शक्तिशाली पुरुष?), *विशाल भारत,* मार्च 1929. कार्टून ने विवादास्पद किताब, अबलाओं का इंसाफ़ पर भी हमला किया, जो हिन्दू/भारतीय महिला के सामाजिक-यौन शोषण और पतन की एक नाटकीय वृतान्त है। उसे एक पुरुष द्वारा लिखा गया जाली विवरण बताया गया है। अबलाओं का इंसाफ़ के विश्लेषण के लिए देखें, प्रकाश कुमार, ऑर्सिनी (2002) : 282-286.
34. हास्य और व्यंग्य की नैतिक सीमाओं पर चतुर्वेदी के कठोर राय के लिए देखें 'हास्य रस का दुरुपयोग' (1932?); नीचे दिये गए उनके सम्पादकीय कार्टून '*हास्यरस का कचूमर*' (मई 1929) को भी देखें, जिसमें उस समय के सबसे लोकप्रिय व्यंग्यकार जी. पी. श्रीवास्तव के व्यंग्यों की आक्रामक प्रकृति पर हमला किया गया था।
35. मसलन, हिन्दी में अश्लील साहित्य, जिसमें प्राय: पूर्व-आधुनिक शृंगार साहित्य शामिल होता था, के ख़िलाफ़ अक्सर विभिन्न दृष्टिकोणों से नरम-गरम आवाज़ें उठती रहीं। यह महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय से लेकर, औपनिवेशिक भारत के अन्तिम दशकों तक, विभिन्न राजनीतिक और साहित्यिक विमर्शों में मुसलसल जारी रहा। साहित्यिक आलोचना में रीति कविता को लेकर व्याप्त राष्ट्रवादी असहजता पर विद्वानों ने पहले काफ़ी कुछ लिखा है। मसलन देखें मृत्युंजय (2005). साहित्यिकों के अलावा मध्यमवर्ग के पेशेवरों ने भी रीति कविता की नैतिक रूप से भ्रष्ट प्रकृति पर अपनी तीखी राय व्यक्त करते रहते थे। देखें एक चुनिंदा उदाहरण, ज्ञानचन्द्र वर्मा (1934).
36. देखें सम्पादकीय: 'घासलेटी साहित्य और मारवाड़ी समाज', *सुधा,* फ़रवरी 1930; प्रो. श्री विश्वमोहन एम.ए., 'चॉकलेटवाद', *युवक,* मार्च 1929.
37. 'घासलेटी लेखकों से अन्तिम निवेदन', *विशाल भारत,* अप्रैल 1929.
38. चारु गुप्ता (2015), 'इनोसेंट' विक्टिम्स/'गिल्टी' माइग्रेंट : हिन्दी पब्लिक स्फीयर, कास्ट एंड इनडेंचर्ड वुमेन इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया', *मॉर्डन एशियन स्टडीज़,* 49 (5) : 1345-77.
39. श्री तोताराम सनाढ्य (1929).
40. इस लोककथा का एक संस्करण अन्तर्जातीय प्रेम के बारे में है, जिसका परिणाम लड़की द्वारा अपने प्रेमी के साथ भाग जाने के रूप में होता है, क्योंकि उस लड़की को दूसरे व्यक्ति से विवाह करने के लिए मजबूर किया जाता है। देखें 'सारंगा सदाबृज', पी. सी. रॉय चौधरी (1994) : 3-4.
41. 'घासलेटी लेखकों से अन्तिम निवेदन', *विशाल भारत,* अप्रैल 1929.
42. *विशाल भारत,* जनवरी 1929.
43. अस्पृश्यता और मल तथा अन्य देह-उत्सर्जित पदार्थों से इसके सम्बन्ध पर उत्कृष्ट प्रारम्भिक मनोवैज्ञानिक-सामाजिक अध्ययन के लिए देखें ऐलन डूनडिस (1997). साथ ही अस्पृश्यता की ऐन्द्रिक/भावनात्मक राजनीति पर प्रकाशित हालिया लेखों को भी देखें, जॉयल ली : 310-327; शिवानी कपूर (2021), 164-176 व (2018) : 256-273.
44. 'चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (1929), 'घासलेट साहित्य', *विशाल भारत,* सितम्बर.
45. *भारतेन्दु,* अप्रैल 1929.
46. यह विज्ञापन एक अन्य पत्रिका, *युवक,* पटना, मई 1929 में प्रकाशित हुआ था।
47. हालाँकि, यह तार्किक कयास अपेक्षाकृत कम स्रोत-संधान पर आधारित है, ठोस जवाब के लिए और अधिक शोध की ज़रूरत है, जिसमें विशेषतौर पर 1930 के दशक से हिन्दी पत्रिकाओं में राजनीतिक बैठकों, रैलियों और प्रदर्शनों में राष्ट्रवादी भीड़ की फ़ोटोग्राफ़िक छवियों के महत्त्व की पड़ताल करनी होगी।
48. यहाँ तक कि प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल जैसे शख़्सियतों ने भी व्यंग्य को सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से हीनतर साहित्य माना था। इसका मतलब यह नहीं है कि वे चतुर्वेदी की विचारधारा से पूरी तरह सहमत थे। विस्तार के लिए देखें प्रभात कुमार (2015) : 47-48.

सन्दर्भ सूची

चाँद, भविष्य, भारतेन्दु, सरस्वती, युवक, सुधा, विशाल भारत, मतवाला के सन्दर्भित अंक.

अनन्दिता घोष (2006), पावर इन प्रिंट : पॉपुलर पब्लिशिंग एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ लैंग्वेज एंड कल्चर इन अ कोलोनियल सोसाइटी, 1778-1905, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

अविनाश कुमार (2001), मेकिंग ऑफ़ द हिन्दी लिटरेरी फील्ड : जर्नल्स, इंस्टिट्यूशंस, पर्सनैलिटीज, पी-एच.डी. शोध प्रबन्ध, सेंटर फ़ॉर हिस्टोरिकल स्टडीज़, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.

आलोक राय (2001), हिन्दी नेशनलिज़्म, ट्रैक्ट्स फ़ॉर द टाइम्स, ओरिएंट लॉन्गमैन, दिल्ली.

ऐलन डूनडिस (1997), टू टेल्स ऑफ़ क्रो एंड स्पैरो : ए फ्रायडियन फोकलोरिस्टिक एसे ऑन कास्ट एंड अनटचेबिलिटी, रोमैन एंड लिटिलफील्ड, लैनहम.

कर्मेन्दु शिशिर (1988), 'मतवाला मंडल : साहित्यिक पत्रकारिता का एक अनूठा अध्याय', पहल, विशेषांक.

कल्याण चटर्जी (2020), मीडिया एंड नेशन बिल्डिंग इन ट्वेंटिएथ-सेंचुरी इंडिया : लाइफ़ एंड टाइम्स ऑफ़ रामानंद चटर्जी, रूटलेज, न्यूयॉर्क.

कुमकुम संगारी और सुदेश वैद सं. (1989), रीकास्टिंग विमेन : एसेज़ इन कोलोनियल हिस्ट्री, काली फ़ॉर विमेन, दिल्ली.

क्रिस्टीना ए. जोसेफ़ और आनन्दम पी. कावूरी (2007), 'कोलोनियल डिस्कोर्स एंड द राइटिंग्स ऑफ़ कैथरीन मेयो', अमेरिकन जर्नलिज़्म, 24 (3): 55-84.

चारु गुप्ता (2001), सेक्सुअलिटी, ऑब्सीनिटी, कम्युनिटी : विमेन, मुस्लिम एंड द हिन्दू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

जॉयल ली (2017), 'ओडर एंड ऑर्डर : हाउ कास्ट इज इंस्क्राइब्ड इन स्पेस एंड सेंसोरिया, कॉम्पेरेटिव स्टडीज़ ऑफ़ साउथ एशिया, अफ्रीका एंड मिडल ईस्ट, 37 (3): 470-490.

जॉयल ली, 'डिस्गास्ट एंड अनटचेबिलिटी : टुवर्ड्स एन एफेक्टिव थियरी ऑफ़ कास्ट', साउथ एशियन हिस्ट्री एंड कल्चर, 12 (2-3): 310-327. जेराल्डीन फ़ोर्ब्स (1996), विमेन इन मॉडर्न इंडिया, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

प्रकाश कुमार (सितम्बर 2017), 'घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन और अबलाओं का इंसाफ़', हंस.

विनय धारवाड़कर (1993), 'ओरिएंटलिज़्म एंड द स्टडीज़ ऑफ़ इंडियन लिटरेचर', ओरिएंटलिज़्म एंड पोस्टकोलोनियल प्रेडिकामेंट (सं.) कैरोल ए. ब्रेकेनरिज और पीटर वैन डेर वीर, फ़िलाडेल्फ़िया : युनिवर्सिटी ऑफ़ पेनसिल्वेनिया प्रेस, 158-185.

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' (2006), चॉकलेट एंड अदर राइटिंग्स ऑन मेल-मेल डिज़ायर, अनुवाद और भूमिका, रूथ वनिता, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

प्रभात कुमार (2020), 'हिन्दी पत्रिकाओं में कार्टून और दृश्य संस्कृति, 1900-1940', प्रतिमान 16: 55-91.

प्रभात कुमार (2013), 'फ्रॉम पंच टु मतवाला: ट्रान्सकल्चरल लाइव्स ऑफ़ अ लिटरेरी फॉरमैट', एशियन पंचेज़ : अ ट्रान्सकल्चरल रीडिंग (सं.) हंस हार्डर और बारबरा मितलर, हाइडलबर्ग: स्प्रिंगर. पॉल टीड (2003), 'रेस अगेंस्ट मेमोरी: कैथरीन मेयो, जाबेज़ सुंदरलैंड, एंड इंडियन इंडिपेंडेंस', अमेरिकन स्टडीज़, 44 (1-2) : 35-57.

फ्रेंचेस्का ऑर्सिनी (1999), 'रीडिंग अ सोशल रोमांस: चंद हसीनों के ख़तूत', वसुधा डालमिया और थियोडोर डैमस्टीगेट (सं.), नैरेटिव स्ट्रैटेजीज़: एसेज़ ऑन साउथ एशियन लिटरेचर एंड फ़िल्म, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

फ्रेंचेस्का ऑर्सिनी (2002), द हिन्दी पब्लिक स्फीयर : लैंग्वेज एंड लिटरेचर इन द एज ऑफ़ नेशनलिज़्म, 1920-1940,ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

फ्रेंचेस्का ऑर्सिनी (2009), प्रिंट एंड प्लेज़र : पॉपुलर लिटरेचर एंड इंटरटेनिंग फ़िक्शन इन कोलोनियल इंडिया, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (2000), 'लेखक और नागरी लेखक', भारतेन्दु समग्र (सं.) हेमन्त शर्मा, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, वाराणसी.
मैनेजर पांडेय (2017), 'यह कछुआ धर्म अभी और कब तक?' आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन.
मार्क एम. स्मिथ (2007), सेन्सिंग द पास्ट : सीइंग, हियरिंग, स्मेलिंग, टेस्टिंग एंड टचिंग, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कली.
— (2011), सेंसरी हिस्ट्री : अ मेनिफ़ेस्टो, पेंसिल्वेनिया स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस, पेंसिल्वेनिया.
मृत्युंजय (2005), हिन्दी आलोचना में कैनन-निर्माण की प्रक्रिया, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
मृणालिनी सिन्हा (2006), स्पेक्टर ऑफ़ मदर इंडिया : द ग्लोबल रिस्ट्रक्चरिंग ऑफ़ एन एम्पायर, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, डरहम.
नलिन विलोचन शर्मा (1946), 'साहित्य में ग्राम्यता और अश्लीलता', दृष्टिकोण : साहित्य, कला तथा मनोविज्ञान सम्बन्धी, पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय.
राधा कुमार (2002), हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग: एन इलस्ट्रेटेड अकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फ़ॉर विमेंस राइट्स एंड फ़ेमिनिज़्म इन इंडिया, 1800-1990, काली फ़ॉर विमेन,दिल्ली.
रामविलास शर्मा (1972), निराला की साहित्य साधना, खंड 1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
विलियम बी. वार्नर (2000), 'स्टेजिंग रीडर रीडिंग', एटीन्थ सेंचुरी फ़िक्शन, 12 (2-3) : 391-416.
— (1998), लाइसेंसिंग एंटरटेनमेंट : द इलिवेशन ऑफ़ नॉवेल रीडिंग इन ब्रिटेन, 1684-1750, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कली.
विलियम माज़रेला (2013), सेंसोरियम: सिनेमा एंड द ओपेन एज ऑफ़ मास पब्लिसिटी, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम.
शिवानी कपूर (2021), 'द वायलेंस ऑफ़ ओडर : सेंसरी पॉलिटिक्स ऑफ़ कास्ट इन अ लेदर टैनरी', द सेंस एंड सोसाइटी, 16 (2): 164-176.
— (2018), 'कास्ट इन डिसगस्ट : इज़ एन इम्पैथेटिक रीडिंग ऑफ़ कास्ट पॉसिबल', इमोशन्स : हिस्ट्री, कल्चर, सोसाइटी, 2 (2): 256–273.
सुजाता मोदी (2019), द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न हिन्दी : लिटरेरी अथॉरिटी इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.
सुमन्त बनर्जी (1989), पार्लर एंड द स्ट्रीट : एलीट एंड पॉपुलर कल्चर इन नाइन्टीन्थ सेंचुरी कलकत्ता, सीगल बुक्स, कोलकाता.
सुमित सरकार व तनिका सरकार सं. (2008), विमेन एंड सोशल रिफ़ॉर्म इन मॉडर्न इंडिया : ए रीडर, इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.
सोबना निझावन (2012), विमेन एंड गर्ल्स इन द हिन्दी पब्लिक स्फीयर : पीरियॉडिकल लिटरेचर इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.
— (2019), हिन्दी पब्लिशिंग इन कोलोनियल इंडिया : जेंडर, जॉनर एंड विज़ुअलिटी इन द क्रिएशन ऑफ़ अ लिटरेरी 'कैनन', ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.
हंस हार्डर सं. (2010), लिटरेचर एंड नेशनलिस्ट आइडियोलॉजी : राइटिंग हिस्ट्रीज़ ऑफ़ मॉडर्न इंडियन लैंग्वेजेज़, सोशल साइंस प्रेस, दिल्ली.
यूजीन वेबर (1976), पेजेंट्स इंटू फ़्रेंचमेन : मॉडर्नाइजेशन ऑफ़ रूरल फ़्रांस, 1870-1914, स्टैनफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफ़ोर्ड.